स्वामी श्रीशंकरतीर्थ यति ।

ॐ

श्री पुरी गोवर्द्धनमठाधीन परमहंस
परिव्राजकाचार्य
श्रीश्री शंकरपुरुषोत्तमतीर्थ स्वामीजी महाराजकृत

योगवाणी
या
सिद्धयोगोपदेश
का
हिन्दी अनुवाद

अनुवादक और प्रकाशक
रायबहादुर पंड्या बैजनाथ, बी० ए०,
कमच्छा, बनारस ।

प्राप्तिस्थान—मैनेजर, सिद्धयोगाश्रम, छोटीगैबी, बनारस ।

१९३८

मूल्य १)

ॐ

श्री पुरी गोवर्द्धनमठाधीन परमहंस
परिव्राजकाचार्य
श्रीश्री शंकरपुरुषोत्तमतीर्थ स्वामीजी महाराजकृत

योगवाणी

या

सिद्धयोगोपदेश

का

हिन्दी अनुवाद

"आलोक्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः ।
इदमेकं सुनिष्पन्नं योगशास्त्रं परं मतम् ॥
यस्मिन् ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातं भवति निश्चितम् ।
तस्मिन् परिश्रमः कार्यः किमन्यत् शास्त्रभाषितम् ॥"

शिवसंहिता ।

अनुवादक और प्रकाशक
रायबहादुर पंड्या बैजनाथ, बी० ए०,
कमच्छा, बनारस ।

प्राप्तिस्थान—मैनेजर, सिद्धयोगाश्रम, छोटीगैबी, बनारस ।

 १९३८ मूल्य १)
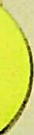
अनुवादक का निवेदन

भारतवर्ष में एक काल में ऐसी दीक्षा हुआ करती थी जिसमें गुरु योग्य शिष्य की भूतशुद्धि कर, उसके पाप और मल दूर कर, उसमें शक्ति संचार कर, उसे ज्ञान की ऊंची सीढ़ी पर पहुंचा देते थे। दीक्षा शब्द का अर्थ ही ज्ञान का देना और पापों का क्षय करना है। तंत्रों में, योगवाशिष्ठ में, देवी भागवत, लिंग और शिवपुराण आदि में इस बात का प्रमाण है। विद्युत् से अधिक बलवती एक शक्ति है जिसे योगशास्त्र में कुंडलिनी कहते हैं। वह खनिज, वनस्पति, पशु पक्षियों में भी कुछ कुछ कार्य करती है। मनुष्य में यह अभी थोड़ी सी ही जाग्रत है। उसके पूर्ण जगने में जीवात्मा और परमात्मा की एकता और मन और अहंकार का नाश होते हैं और सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। सारे योग का आधार यही कुंडलिनी है। साधनचतुष्टययुक्त पूर्ण पवित्रता में यह आपसे आप जग सकती है। मंत्रार्चनापूजादि इसीके कारण सिद्ध और फलप्रद होते हैं। चैतन्य महाप्रभु में ईश्वरपुरी ने गया में शक्ति संचार किया था। रामकृष्ण परमहंस की समाधि काल की दृष्टि से या स्पर्श से दूसरे शिष्यों में शक्तिसंचार द्वारा समाधि हो जाती थी। श्री विजयकृष्ण गोस्वामीजी को गया में श्री ब्रह्मानन्द ने शक्तिसंचार द्वारा उपदेश दिया था। आज कल इस शक्तिसंचार की योग्यता का प्रायः लोपसा हो रहा है। ग्रंथकर्त्ता के सद्गुरु बैकुंठवासी श्री १०८ परमहंस स्वामी नारायणतीर्थजी को यह शक्तिसंचार की शक्ति उनके गुरु श्री १०८ परमहंस गंगाधरतीर्थ स्वामीजी से जगन्नाथपुरी में प्राप्त हुई थी। इन्हें भी वह शक्ति गुरुपरंपरा से ही प्राप्त

हुई थी। इन श्रीगंगाधरतीर्थजी के कथनानुसार तब इस भारत में केवल छः व्यक्ति थे जिन्हें इस शक्तिसंचार करने की योग्यता थी। श्री विजयकृष्ण गोस्वामी जी ने भी यही बात अपने शिष्यों से कही थी। गुरु परंपरा के विना यह शक्ति किसी को मिल नहीं सकती। गुरुपरम्परा द्वारा प्राप्त शक्तिसंचार से नव शिष्य को कुछ अनुभव अवश्य होना चाहिये। जबतक शिष्य में गुरुशक्ति संचारित न हो तब तक गुरु-शिष्य सम्बन्ध नियत नहीं होता। गुरुके पास शक्ति-संचार के लिए जाना पड़ता है, केवल मंत्र पाने के लिए नहीं। श्री १०८ परमहंस स्वामीगंगाधरतीर्थजी ने श्री १०८ परम-हंस नारायणतीर्थजी से कहा था कि इस कलियुग में योग से अर्थात् अस्वाभाविक आसनप्राणायामादि द्वारा सिद्धि होना कठिन है पर शक्तिसंचार से नामभक्ति करने में सब आवश्यक योग भी जैसे आसन, मुद्रा, प्राणायामादि स्वभावतः आ जाता है। श्री १०८ परमहंस नारायणतीर्थ महराज ने अपने शिष्य, इस ग्रन्थ के मूलकर्त्ता श्री १०८ स्वामी शंकर पुरुषोत्तमतीर्थ जी महाराज से भी यही कहा था। परन्तु उपदेशकर्त्ता में स्वयं मंत्रचैतन्य हो चुकना चाहिये तब ही शक्तिसंचार हो सकता है। मंत्रचैतन्य और कुंडलिनी का जागरण ये दोनों एक ही हैं। इसी शक्तिसंचार का हाल और उससे होते हुए अनुभवों का वर्णन इस ग्रन्थ में है।

इस में लिखी बातें शास्त्रानुसार होने पर भी सब मूल-ग्रन्थकर्त्ता के अनुभवानुसार हैं। ये अनुभव उनको गुरुकृपोत्पन्न शक्तिसंचार से हुए थे। उनके अनुभवों में से केवल थोड़े ही इस पुस्तक में लिखे गये हैं। तन्त्रग्रन्थों में, पाशुपतयोग में, कुछ पुराणों में, ऊपर लिखे अनुसार इस शक्तिसंचार का विशेष वर्णन है। इस काल में इसकी

बड़ी आवश्यकता है कि साधनसंपन्न योग्य जिज्ञासु इस विषय का अनुसन्धान कर स्वयं अनुभव करें और स्वयं स्पर्शमणि बन जावें ताकि वे दूसरों को भी सुवर्ण बनावें और इस प्रकार इस विद्या का लोप न होने पावे। इसका लोप न होने देना सारी भारत प्रजा का परम कर्तव्य है। उसी हेतु से यह पुस्तक बंगला में लिखी गई है और अब हिन्दी में अनुवादित की जा रही है। इस भाषान्तर को ग्रन्थकर्त्ता ने देख लिया है और स्वीकार कर लिया है। कहीं थोड़ासा उनकी सम्मति से बढ़ाया घटाया गया है। उनकी कुछ जीवनी जो अनुवादक को प्राप्त हो सकी है, पाठकों के उत्साहार्थ आगे दी जाती है।

दिसम्बर १९३८। अनुवादक।

ग्रन्थकर्त्ता का संक्षिप्त परिचय

ढाका जिले के अन्तर्गत विक्रमपुर परगना में एक ब्राह्मण भक्तकुल में कोई ५० वर्ष पूर्व इनका जन्म हुआ था। इनके पिता भी योगी थे। बालापन से ही इनकी रुचि भक्ति और योग की ओर थी। इनने इन्ट्रेन्स कक्षा तक पढ़कर अध्ययन छोड़ दिया था। अठारह वर्ष की वय में घर छोड़कर ये कुछ देश कल्याण के कार्य में लग गये थे। उस समय इनकी भक्ति भी रामकृष्ण परमहंस पर थी। वे ही इनके आराध्य देव थे, इन्हीं का स्मरण ये करते थे। फरीदपुर जिले के इडिलपुर परगना में दासेरजङ्गल ग्राम में ये एक शाला में पढ़ाते थे। वहाँ श्रीरामकृष्ण परमहंस का एक फोटोचित्र स्थापन करके उसी की पूजा ध्यान दो बार करते थे। परमहंस श्रीरामकृष्ण का उपदेश था कि जो हमारा चिन्तन करेगा उसे हम योग्यकाल में सद्गुरु से मिला देवेंगे। सो इनकी भी यही प्रार्थना रहती थी और इसी के लिए रुदन भी होता था। ऐसा करते २ एक रात्रि को चार बजे तन्द्रा में एक स्वप्न या दृश्य देखा कि श्रीरामकृष्ण परमहंस सामने बैठे हैं। इनने पूछा कि समाधि क्या है? उनने उत्तर में पूछा कि क्या तुम समाधि प्राप्त करना चाहते हो? ये चुप हो गये क्योंकि ये यदि सम्भव हुआ तो उससे भी आगे बढ़ना चाहते थे और यदि नहीं कहते तो शायद समाधि भी न सध पाती। परमहंसजी ने उत्तर दिया कि कर्म करो। यह कह वे इनके कन्धों पर बैठ गये जिससे ये भाव और आनन्द में आकर मूर्च्छित से हो गये और नाचने लगे। जब वे कांधे से उतरे तो उनकी मूर्ति श्रीस्वामी नारायणतीर्थ सरीखी बन गई। पीछे ध्यान करते २ एक दिन मूर्च्छा आ गई और इन्हें ऐसा भान हुआ कि एक लाल

कपड़े पहनी हुई स्त्री अन्नपूर्ण थाली लेकर आकाश से धीरे २ उतरी और इनके शरीर में घुसने लगी तो ये हुङ्कार का शब्द करते हुए जग गये। तब ये पद्मासन में बैठे हुए थे और इनके हृदय में और शरीर में कम्पन था। तबसे ध्यान करते समय शरीर में कम्पन और कभी २ घबड़ाहट होती थी। इनके स्थान से एक मील दूरी पर विनोटिया नाम ग्राम में एक योगी थे उनके पास इनके एक मित्र ने इन्हें भेजा। ये ही श्री स्वामी नारायणतीर्थ जी थे। वे ही पूर्व में इन्हें स्वप्न में दिखे थे। उनने पूछा, कुछ करते हो? कुछ अनुभव होता है? कुण्डलिनी जगे विना कुछ नहीं होता।" तब उनकी कुण्डलिनी जग चुकी थी। इनने उनसे कहा कि मेरी इच्छा आपके पास रहने की है। उनने कहा ठीक है, परस्पर दोनों की परीक्षा हो सकेगी। फिर तीन-चार मास बाद ये एक दिन उनके यहाँ गये और वहाँ दो बजे रात तक ठहरे। वहाँ उनके कुछ शिष्यों को देखा जिन्हें जप करते २ कम्पन होने लगता था। दो बजे रात्रि को जब ये घर जाने लगे तो उनने इन्हें रोककर कहा कि सबेरे जाना। सबेरे चलते समय उनने इन्हें पूछा कि क्या तुम हमें अपना गुरु बनाना चाहते हो? इनने अधिक सोच विचार न कर हाँ कह दिया। तब उनने इन्हें स्नान कराया और मंत्र की दीक्षा दी। यह बंगला संवत् १३१७ मार्गशीर्ष द्वितीया (सन् १९०९-१० ई०) को हुआ। गुरु ने कह दिया कि इसीसे सब कुछ हो जायगा। ये जप करने बैठ गये। गुरु ने पूछा कि कुछ अनुभव होता है। इनने कहा कि जप करते २ मूलाधार में वामावर्त से जैसे एक पेंच (screw) खुल गया हो ऐसा प्रतीत होता है। उनने कहा तुम्हारा शरीर भी कुछ कांपता है। फिर ये अपने घर चले आये। रास्ते में

सोचने लगे कि "विना विचार किये गुरु किया है ; उनके वाक्यों में श्रद्धा वनी रहे, यही मेरा कर्तव्य है।" घर पहुंचने पर आसन पर वैठकर ध्यान करने लगे तव अनुभव हुआ कि जैसे मूलाधार से एक धारा सहस्रार को जाती है और वहां से लौटती है और मन उसी में लगा रहता है। शरीर का भान नहीं रहता था और भरपूर आनन्द का भान होता था। जव देहात्मवुद्धि लौटी तव ज्ञात हुआ कि श्वास विलकुल लीन हो गया है। पीछे से वह श्वास स्वाभाविक रीति से चलने लगा। इससे आनन्द और उत्साह वढ़ा कि इससे आगे क्या है सो देखना चाहिये। दृढ़ता इतनी थी कि या-तो अर्थ सधे या देह का पात हो। इस दृढ़ता से वैठकर जप करना शुरू कर दिया। जप करते २ ये देखने लगे कि इनके चेहरे के आस पास एक दिव्य ज्योति है और उसके भीतर इनके मंत्रप्रतिपादित देवी का रूप है। तव आनन्द से इनका शरीर पुलकित होने लगा और यह भावना हुई कि दुनिया में कुछ सार नहीं है, मैं जाकर गुरुचरणों में पड़ा रहूँगा। दूसरे दिन ये अपने गुरुदेव के पास चले गये और लगभग आठ वर्ष तक उनकी सेवा में रहे। वहाँ जाने के प्रथम दिन रात्रि में गुरुदेव के पास वैठकर जप करते २ आनन्द से भाव समाधि हो गई और ये सारी रात उसी भाव समाधि में पड़े रहे। गुरुजी ने इनको उस रात्रि को खाने को जगाया पर ये खा न सके। रात्रि भर भाव अवस्था रही। सवेरे उठकर जव जप ध्यान में वैठे तो कम से कम तीन घण्टा वेहोशी की अवस्था में रहे और स्वतः कुम्भक प्राणायाम होने लगा। गुरुजी ने कहा कि अव वन्द करो पर इन्हें तव भी यही भान होता था कि मैंने तो अभी ही आरम्भ किया है हालांकि कम से कम तीन घण्टे

बीत चुके थे और गुरुजी ने कहा भी कि तीन घण्टे हो चुके हैं। उस समय भाव अवस्था थी। मुंह से नाना प्रकार के गर्जन शब्द निकलते थे जैसे सिंह के समान, सियार के समान। उस समय आनन्द की अवस्था थी। दुनिया आनन्दमयी भान होती थी। यह भाव छोड़ना उस समय कठिन था पर इनके गुरुजी पकड़ कर इन्हें भोजन कराने ले गये। इस प्रकार क्रमशः शरीर में बहुत प्रकार के आसन, मुद्रा, प्राणायाम, चक्रों में कुण्डलिनी शक्ति की गति और नाना प्रकार के अनुभव स्वभावतः होने लगे जिनमें से कुछ थोड़े ही इस योगवाणी में दिये गये हैं। जो २ बातें इसमें लिखी गई हैं वे सब अनुभव की हुई ही लिखी गई हैं। बिना स्वानुभव की कोई नहीं लिखी है। पीछे आप काशी चले आये और ब्रह्मचारी अवस्था में साधना करते रहे। ऋषिकेश में और झूसी (प्रयाग) में भी कुछ काल तक रहे। झूसी से काशी आते जाते रहे। काशी में नाना शास्त्र ग्रन्थादिकों का अध्ययन भी किया और तब यह पुस्तक लिखी। पुरी गोवर्द्धनमठाधीश श्री १००८ जगद्गुरु शङ्कराचार्य श्रीभारतीकृष्णतीर्थ स्वामीजी महाराज से आपने सन् १९२६ में सन्यास लिया। सन्यास लेते समयभी महा-मंत्र के उपदेश प्रसङ्ग पर गुरु के इनके शिर पर हाथ देने से इनकी भावसमाधि हो गई थी। अब ये छोटी गैवी, काशी में, सिद्धयोगाश्रम मठ में विराजमान हैं।

श्री स्वामी नारायणतीर्थजी गुरुवाक्य पर विश्वास करके बड़ी श्रद्धा से जप करते रहे और उनकी कुंडलिनी के उत्थान को मंत्र दीक्षा के बाद १५ वर्ष लगे। उनका सदैव यही कहना था कि मंत्रशक्ति से सब कुछ हो जायगा। जबरन प्राणायामादि करने की कोई आवश्यता नहीं है।

पूर्व में कह आये हैं कि श्री स्वामी नारायणतीर्थजी अपने गुरु से सुना था कि शक्तिसंचार करनेवाले जग में तब केवल छः व्यक्ति थे। विजयकृष्ण गोस्वामीजी का यही कहना था। वे छः कौन हैं इसका पता नहीं है। इ शक्तिसंचारपरम्परा को सिद्धयोग कहते हैं। कुलार्णवतं में इसे वेधदीक्षा कही हैं। सिद्धयोग के विशेष उपादा गुरुभक्ति, श्रद्धा और आलस्य रहित हो जप करना येह हैं। दीक्षा के वाद ऐसा करने से तीन जन्मों में मोक्ष प्रा होता है।

सब मंत्र और योग क्रियाओं में गुरुभक्ति का बड़ा माहात्म्य है। गुरु शक्तिशाली होना चाहिये और शिष्य भी श्रद्धालु और भक्तिमान् होना चाहिये। पूर्ण श्रद्धा और पूर्ण भक्ति हुए विना गुरु की शक्ति शिष्य में पहुँच नहीं सकती। सद्गुरु में, उसके दिये मंत्र में, और इष्टदेव में भेद न देखना चाहिये, क्योंकि तीनों का एक ही सूत्र है। कहा है :—

यथा मंत्रे तथा देवे यथा देवे तथा गुरौ।
पश्येदभेदतो मंत्री एवं भक्तिक्रमो मुने ॥ गौतमीय तंत्रे।

अर्थ—मंत्र, देवता, और गुरु में अभेद ज्ञान रखना चाहिये। हे मुनि, यही भक्तिक्रम है। और भी :—

देवे तीर्थे द्विजे मन्त्रे दैवज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ॥

अर्थ :—देवता में, तीर्थ में, ब्राह्मण में, मंत्रमें, दैवज्ञ में, औषधि में और गुरु में जिसकी जैसी भावना होती है उसको वैसी ही सिद्धि लाभ होती है। अन्धविश्वास के कारण नहीं, पर सब फलों में शिष्य के मन की सहकारिता की आवश्यकता है और सिद्धि किसी अंश में उस सहकारिता पर आश्रित है।

———

विषय-सूचि

———

योगवाणी
अथवा
सिद्धयोगोपदेश

प्रथम अध्याय

शिष्य—गुरुदेव ! इस संसार में सब लोग अनित्य सुख की वासना रूप मायाजाल में फंसकर अपार दुःख भोगते हैं और पुनः पुनः जन्म मृत्यु के चक्कर में पड़ते हैं। इन दुःखों से वे जिस प्रकार छुट्टी पावें ऐसे किसी सरल उपाय का उपदेश कृपा कर मुझे करें। मैं शिष्यभाव से आपकी शरणागत होता हूं।

गुरु—हे पुत्र ! तुम्हारे प्रश्न को सुनकर मुझे बहुत आनंद होता है। एक दिन सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा ने देवदेव महादेव से यही प्रश्न किया था।

सर्वे जीवाः सुखैर्दुःखैर्मायाजालेन वेष्टिताः ।
तेषां मुक्तिः कथं देव कृपया वद शंकर ॥ १ ॥
सर्वसिद्धिकरं मार्गं मायाजालनिकृन्तनम् ।
जन्ममृत्युजराव्याधिनाशनं सुखदं वद ॥ २ ॥

(योगशिखोपनिषद् अ० १)

अर्थ—हे शंकर ! सब जीव सुखदुःखरूप मायाजाल में फंसे हैं। हे देव ! उनकी मुक्ति किस प्रकार होवे सो कृपा करके बताइये। जिस मार्ग से सर्व सिद्धि होवे, माया जाल कटे, और जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, व्याधि आदिका नाश होकर जिससे सुख की प्राप्ति हो उसे बताइये।

उसके उत्तर में महादेवजी ने विष्णुनाभिकमल से निकले ब्रह्मा जी को कहा कि—

नानामार्गैस्तु दुष्प्रापं कैवल्यं परमं पदम् ।। ३ ।।
सिद्धिमार्गेण लभते नान्यथा पद्मसंभव ।

हे पद्मसंभव ! जो कैवल्यरूप परमपद नाना प्रकार के मार्गों से कठिनाई से मिलता है वही सिद्धिमार्ग से मिलता है और किसी दूसरे प्रकार से नहीं।

हे पुत्र ! कैवल्यप्राप्ति ही मानव जीवन का उद्देश्य है। कैवल्य मुक्ति होने से ही आत्यंतिक दुःख की निवृत्ति होती है। दुःख नाश होकर फिर उसका उदय न हो उसे आत्यंतिक दुःख निवृत्ति कहते हैं। कैवल्य अर्थात् मोक्ष लाभ होने से जीव को फिर जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि से उत्पन्न दुःख नहीं भोगना पड़ता है। इसे प्राप्ति का सहज मार्ग सिद्धि मार्ग या सिद्धयोग ही है।

शिष्य—गुरुदेव ! सिद्धि मार्ग किसे कहते हैं और कैवल्य कैसा होता है यह कृपाकर मुझे विस्तारपूर्वक समझा देवें।

गुरु—हे पुत्र ! जिस मार्ग में कष्ट विना योग लाभ होता है उसी मार्ग को सिद्धिमार्ग कहते हैं। योगरूप सिद्धि-प्राप्ति का मार्ग सुषुम्णानाडी ही है; प्राणवायु के इसी नाडी में प्रवेश कर चुकने पर और ब्रह्मरन्ध्रस्थ होने पर साधक को जीव ब्रह्म की एकता का ज्ञान करानेवाला योग प्राप्त होता

है। आरंभ में गुरु द्वारा शक्तिसंचार होने से ही कुंडलिनी शक्ति जागरित होकर और तत्पश्चात्, क्रम क्रम से उन्नति होकर, योग लाभ होता है। जैसे तुम्हें हंडी, चावल, काष्ठ, जल, और अग्नि आदि संग्रह करने का कोई भी परिश्रम किये विना ही केवल दाता की कृपा से उसके घर में रंधे पक्वान्न द्वारा क्षुधा की निवृत्ति होती है उसी प्रकार तुम्हें परिश्रम किये विना ही सर्व योग की आधाररूपा मूलाधारस्था कुंडलिनी शक्ति का उद्बोधन (जागरण) होने से योग शास्त्रोक्त आसन, मुद्रा और प्राणायामादि किसी का अस्वाभाविक रीति से अनुष्ठान नहीं करना पड़ता। केवल गुरुशक्ति के प्रभाव से कुंडलिनी शक्ति के जागरण द्वारा स्वाभाविक रीति से योगपथ का लाभ होगा। यही गीता में कहा "सहज कर्म" है। स्वाभाविक रीति से जो होवे वही वास्तव में सहज कहा जा सकता है। योगपथ दो प्रकार का है, स्वाभाविक और अस्वाभाविक; उनमें से अस्वाभाविक उपाय अत्यन्त कष्टसाध्य और विघ्नयुक्त रहता है। स्वाभाविक का विपरीत ही तो अस्वाभाविक होता है। जो स्वाभाविक अर्थात् स्वभाव से ही है वही अनायास साध्य और आरामदायक होता है और उसमें कोई विपद् की संभावना भी नहीं होती। हे पुत्र! देखो जिस क्षण हमको स्वभाव से निद्रा, क्षुधा अथवा मलमूत्रादि का वेग होता है उसी क्षण सोने से अथवा खाने से या मल मूत्रादि का त्याग करने से स्वाभाविक स्वस्थता और मानसिक आनन्द का अनुभव होता है। पर यदि नींद नहीं आती और हठ से सोने गये तो उससे सुषुप्ति के बदले स्वप्नदशा उपस्थित होगी और उससे स्वाभाविक और मानसिक अस्वच्छन्दता का अनुभव होगा। भूख न लगी हो और भोजन किया तो उससे अजीर्णादि दोष

द्वारा शरीर पीड़ित होने की सम्भावना है। विना भूख के खाने से उसमें वैसी रुचि भी नहीं होती। मल का वेग नहीं है और कांखकर मल त्याग किया तो उससे भविष्य में रोग होने की सम्भावना है। पर वेग होने से मल त्याग करने से शारीरिक और मानसिक आराम का भान होता है। उसी प्रकार स्वाभाविक रीति से आसन, मुद्रा और प्राणायामादिक करने की इच्छा होने से वैसी क्रिया करना सहज और शान्तिप्रद होता है। स्वभाव के अनुसार जो होना चाहिये उसमें वाधा डालने से अनिष्ट की ही सम्भावना होती है। जैसे शोक में रोने की तीव्र इच्छा होती है उसे रोकने से छाती में भारी आघात लगता है पर रो लेने देने से शरीर और मन हलके होजाते हैं। मल और मूत्रादि के वेगका वोध होने से उन्हें शीघ्र ही त्याग न करने से क्लेश उत्पन्न होता है और रोग उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है; किन्तु उसके त्याग करने से ही आराम का भान होता है। उसी प्रकार गुरुशक्ति प्रभाव से स्वभावतः जो सब आसन, मुद्रा, प्राणायामादि और नाना प्रकार के अङ्ग सञ्चालनादि करने की इच्छा होती है उसमें वाधा डालने से मानसिक अशान्तिका भान होगा और शरीर को अच्छा न लगेगा। हे पुत्र! देखो, वायु पित्त और कफ के विगड़ने से वैद्य के पास जाना पड़ता है और उसकी औषधिका व्यवहार करके प्रकृति की सहायता करने से शरीर स्वभावतः ही नीरोग हो जाता है। उसी प्रकार सद्गुरुकृपा से शक्तिसञ्चार द्वारा सिद्धिमार्ग लाभ होने पर एक मात्र गुरूपदिष्ट मन्त्र के जप व ध्यान द्वारा ही स्वभावतः आसन, मुद्रा, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान इत्यादि योगाङ्ग सब अनायास ही से साधित हो जाते हैं। इनके विषय में तुमको विशेष

कष्ट व चेष्टा नहीं करनी पड़ेगी और न गुरु निकट ये सब आसन, मुद्रा, प्राणायामादिक का स्वतन्त्र भाव से उपदेश लेने की आवश्यकता रहेगी। इस मार्ग में क्रम से आगे बढ़ते २ तुम शीघ्र ही योगसिद्धि लाभ करके कृतार्थ और धन्य होगे। इसी उपाय द्वारा स्वभावतः योगांगादि साधन-क्रमसे जीव और ब्रह्मकी एकता का ज्ञान और अखण्ड चैतन्यानुभूति होती हैं। इसी को सिद्धिमार्ग या सिद्धयोग कहते हैं।

अब कैवल्य क्या है इसका ब्यौरेवार वर्णन करते हैं सो सुनो। चित्त त्रिगुणात्मक है; सत्व, रज, और तम ये तीन गुण हैं। उनमें सत्व ज्ञानात्मक है, रज क्रियात्मक है और तम आलस्यजड़ात्मक है और इस कारण वह क्रियावरोधक है। जिस समय चित्तसत्व (बुद्धि) रज और तम दोनों से मिश्रित होता है तब उसे ऐश्वर्य और विषय प्रिय लगते हैं। जब चित्त तमोगुण से ढंक जाता है तब उसे अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य प्रिय होते हैं। जब चित्तसत्व अर्थात् बुद्धि केवल रजोगुण से अनुविद्ध या सञ्चारित होती है तब उसका मोहरूपी आवरण क्षीण होकर उसमें सब बातों का ज्ञान और प्रकाश हो सकता है। इस कारण तब चित्तको धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य प्रिय होते हैं। जब चित्त में मलस्वरूप रजोगुण थोड़ी मात्रा में भी नहीं रहता तब वह अपने निजरूप में स्थित होता है और सत्व अर्थात् बुद्धि से पुरुष अर्थात् चैतन्य आत्मा पृथक् है इस ज्ञान में अवस्थित होता है। इस अवस्था को धर्ममेघ नामकी ध्यानपरायणता कहते हैं। योगी लोग इसे अतिश्रेष्ठ प्रसंख्यान स्थिति कहते हैं। यही प्रसंख्यान स्थिति विवेकज्ञान वा विवेकख्याति कहाती है। चित्त से योग द्वारा जब रजोगुण और तमोगुण

दूर हो जाते हैं तब यही विवेकख्याति उत्पन्न होती है। तब चित्त से पृथक् पुरुष (चेतन आत्मा) का भान होता है। इसीको सविकल्प या संप्रज्ञात समाधि कहते हैं।* जिस समय चित्त इस विवेकख्याति स्थिति से भी विरक्त होकर विवेकज्ञान के निरोध करने में समर्थ हो जाता है तब उसे निर्विकल्प या असंप्रज्ञात समाधि लाभ होती है। इसी समाधि में ज्ञान, ज्ञेय, और ज्ञाता, इन तीनों की त्रिपुटी एक अखण्ड चैतन्यरूपी अद्वैत परमात्मा में लीन हो जाती है। तब किसी प्रकार के ज्ञान की स्फुरणा नहीं होती; केवल चितिशक्ति स्वरूप में स्थित होकर रहती है। असंप्रज्ञात समाधि में बुद्धि (चित्त) की वृत्ति निरुद्ध हो जाती है, द्रष्टा आत्मा स्वरूप में स्थित हो जाता है पर इस समाधि के भङ्ग होने पर वह फिर बुद्धि द्वारा विषयदर्शी हो जाता है। इससे आगे द्रष्टा आत्मा जब (जैसा असंप्रज्ञात समाधि में होता है) सब अवस्थाओं में भी अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है—जब बुद्धि कभी भी पुरुष अर्थात् द्रष्टा चेतनात्मा का दृश्यरूप से दर्शन नहीं करती तब उस अवस्था को "केवल" अवस्था कहते हैं। इसलिए यही असंप्रज्ञात समाधि "कैवल्य" लाभ की प्रथम अवस्था है अर्थात् इसीके द्वारा आगे क्रमशः "केवल" भाव आरम्भ हो सकता है। इस कैवल्यावस्था के लाभ होने से ही उस व्यक्ति के सम्बन्ध में सत्वरजतमोगुणात्मिका प्रकृति के कार्य का अन्त हो जाता है। वह पुरुष प्रकृति के अतीत अर्थात् गुणातीत हो जाता है।

---

* योगी लोग संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधि भेद बताते हैं और वेदान्ती उन्हीं को सविकल्प और निर्विकल्प समाधि कहते हैं। संप्रज्ञात और सविकल्प समाधि एक ही हैं; कोई भेद नहीं है। वैसी ही असंप्रज्ञात और निर्विकल्प समाधि एक ही हैं।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति। (पातंजलयोगसूत्र ४।३४)

अर्थ—जब कार्यकारणात्मक त्रिविध गुण भोग और अपवर्गसाधन करके पुरुषार्थशून्य हो जाते हैं और उनकी कार्योन्मुखता दूर हो जाती है तब उसी अवस्था को कैवल्य अवस्था कहते हैं। एक रीति से कैवल्य शब्द से चिति शक्ति (चैतन्य) का स्वरूप में स्थित होना समझना चाहिये।

शिष्य—भगवन्! शास्त्र में लिखा है कि ज्ञान ही मुक्ति का कारण है पर आपके कहने से जान पड़ता है कि योग ही मुक्ति का कारण है। इस कारण मेरे मन में संशय होता है; मैं जानना चाहता हूँ कि मुक्ति का कारण योग है, या ज्ञान है या फिर योग और ज्ञान दोनों ही मुक्ति के लिए आवश्यक हैं। कृपाकर मुझे यह समझाकर मेरा संशय दूर कीजिये।

गुरु—हे वत्स! जैसे पक्षिगण एक पंखसे आकाश में नहीं उड़ सकते हैं और दोनों पंखों की आवश्यकता होती है उसी समान साधक भी अकेले ज्ञान या अकेले योग से मोक्ष रूपी चिदाकाश में नहीं उड़ सकते हैं। अर्थात् ज्ञान और योग दोनों की सहायता से ही साधक मोक्ष को प्राप्त हो सकता है।

योगशिखा उपनिषद में लिखा है :—

ज्ञानं केचिद्वदन्त्यत्र केवलं तन्न सिद्धये ॥ १२ ॥
योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीह भोः।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि ॥ १३ ॥
तस्माज्ज्ञानं च योगंच मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत् ॥

योगशिखा अ० १।

अर्थ—कोई २ ज्ञान को ही मोक्ष का (अर्थात् आवरण नाश का) उपाय बताते हैं किन्तु उससे सिद्धि न होगी। हे ब्रह्मन्! योगरहित ज्ञान से मोक्ष कैसे मिलेगा। वैसे ज्ञान बिना अकेला योग भी मोक्ष न दे सकेगा। इसलिए मुमुक्षु ज्ञान और योग दोनों का दृढ़ अभ्यास करे।

हे वत्स! योग द्वारा चित्त की चंचलता नाश होकर और ज्ञानद्वारा (जीव ब्रह्म की एकता का बोध होने से) संशय नाश होकर मोक्ष लाभ होता है। संशय दो प्रकार का है प्रमाणगत संशय और प्रमेयगत संशय। वेदान्त वाक्य में जीव ब्रह्मका भेद प्रतिपादित है या अभेद प्रतिपादित है, इस प्रकार के संशय को प्रमाणगत संशय कहते हैं। जीव ब्रह्म का भेद सत्य है या अभेद सत्य है इस संशय को प्रमेयगत संशय कहते हैं।

हे वत्स! ज्ञान के दो प्रकार हैं, परोक्ष और अपरोक्ष। गुरु वाक्य से और शास्त्र पाठ से उत्पन्न ज्ञानको परोक्ष ज्ञान कहते हैं और अनुभवात्मक ज्ञान को अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं। यह अपरोक्ष ज्ञान साधनपर निर्भर है।

> यावन्नैव प्रविशति चरन् मारुतो मध्यमार्गे।
> यावद्बिन्दुर्न भवति दृढ प्राणवातप्रबंधात्॥
> यावद्ध्याने सहजसदृशं जायते नैव तत्वं।
> तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दंभमिथ्याप्रलापः॥ ११४॥

हठयो० प्र०। ४।

अर्थ—जबतक प्राणवायु सुषुम्णा मार्ग में प्रवेश करके चलते २ सहस्रारस्थित ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश न करे, जबतक कुंभक साधन द्वारा बिन्दु स्थिरभाव धारण न करे, जबतक चित्त की ध्येयाकार वृत्तिप्रवाह द्वारा तत्वज्ञान न जन्मे;

तबतक जो शब्दों द्वारा ज्ञान कहा जावे वह दंभ और मिथ्या प्रलाप मात्र है। अखंड वस्तु ही वास्तव में तत्व है। यही अखंड वस्तु (अर्थात् अखंड चैतन्य) संबंधी जो ज्ञान है उसे तत्वज्ञान कहते हैं। इसी तत्व को भक्त लोग भगवान्, ज्ञानी लोग ब्रह्म, और योगी लोग परमात्मा कहते हैं।

वदन्ति तत्तत्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयं
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।

(श्रीमद्भागवत)

अर्थ—तत्वविद्गण अखंड ज्ञान को तत्व कहते हैं। इसी तत्व को ब्रह्म, परमात्मा, और भगवान् भी कहते हैं।

शिष्य—गुरुदेव! परोक्षज्ञान और अपरोक्ष ज्ञानको और विस्तारसे समझा देवें।

गुरु—हे वत्स! जिस प्रकार दीप के जलाने से अंधकार नष्ट हो जाता है, किन्तु दीप! दीप! चिल्लाने मात्र से अन्धकार नष्ट नहीं होता, दीप जलाने ही से नाश होता है, उसी समान आत्मा और ब्रह्म हैं ऐसा जानने मात्र से आत्मा और ब्रह्म का दर्शन नहीं होता है पर साधन द्वारा आत्मा वा ब्रह्म का दर्शन या उपलब्धि होती है। सच्चिदानंदरूपी आत्मा और ब्रह्म हैं इस ज्ञानको परोक्षज्ञान कहते हैं और हम ही सच्चिदानंदस्वरूप आत्मा वा ब्रह्म हैं इस प्रकार की साक्षात् उपलब्धि को अपरोक्षज्ञान कहते हैं।

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षज्ञानमेवतत्।
अहं ब्रह्मेति चेद्वेद अपरोक्षं तदुच्यते॥

(पंचदशी)

अर्थ—ब्रह्म है इस प्रकारके ज्ञान को परोक्षज्ञान और "हम ही ब्रह्म हैं" इस अनुभव को अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं।

हे वत्स ! गुरूपदिष्ट साधनादि द्वारा, चित्तशुद्धि के विना केवल शास्त्र श्रवण और अध्ययनादि द्वारा, स्वयं प्रकाशस्वरूप आत्मा की अपरोक्षानुभूति नहीं होती है।

स्वात्मप्रकाशरूपं तत् किं शास्त्रेण प्रकाश्यते ।
(योगशिखोपनि०)

अर्थ—स्वयं प्रकाशरूप आत्मा को शास्त्र क्या प्रकाश कर सकता है ?

अर्थात् शास्त्रसे प्राप्त ज्ञान द्वारा स्वयंप्रकाशस्वरूप आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

हे पुत्र ! परमार्थदृष्टियुक्त मनुष्य से ही शास्त्र का प्रकाश होता है। शास्त्र से मनुष्य का प्रकाश नहीं होता । इसलिए प्रथमतः परोक्षज्ञान द्वारा आत्मा को सामान्यभाव से जानकर फिर गुरूपदिष्ट साधन द्वारा उसे अपरोक्षरूप से साक्षात्कार कर सकते हैं। जैसे भूगोल पढ़कर और नक्शे को देखकर देश को सामान्य रीति से जान सकते हैं पर भूगोल में लिखे स्थानों को जाकर देखने से देशको विशेष भाव से जान सकते हैं। योग द्वारा ही इस अपरोक्षज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए पूर्व में कह आये हैं कि मुमुक्षु को ज्ञान और योग दोनों का अभ्यास दृढ़ता से करना चाहिये ।

शिष्य—गुरुदेव ! योग विना केवल ज्ञान विचार द्वारा ही मन को परमात्मा में समाधिस्थ कर सकते हैं या नहीं ?

गुरु—वत्स ! चञ्चल चित्त में ज्ञान विचार करने से शांतिलाभ न होगा। ज्ञानविचार द्वारा साधक ध्यानस्थ हो सके पर साधारण कारणों से उसे चित्त का विक्षेप (चंचलता)

होगा और दुःखप्राप्ति भी होगी। इस विषय में शिवजी योगशिखोपनिषद्में प्रथम अध्याय में कहते हैं :—

सर्वो योगाग्निना देहो ह्यजडः शोकवर्जितः ॥ २६ ॥
जडस्तु पार्थिवो ज्ञेयो ह्यपक्वो दुःखदो भवेत्।
ध्यानस्थोऽसौ तथाप्येवमिन्द्रियैर्विवशो भवेत् ॥ २७ ॥
तानि गाढं नियम्यापि तथाप्यन्यैः प्रबाध्यते।
शीतोष्णसुखदुःखाद्यै र्व्याधिभिर्मानसैस्तथा ॥ २८ ॥
अन्यैर्नानाविधैर्जीवैः शस्त्राग्निजलमारुतैः।
शरीरं पीडयते तैस्तैश्चित्तं संक्षुभ्यते ततः ॥ २९ ॥
तथा प्राणविपत्तौ तु क्षोभमायाति मारुतः।
ततो दुःखशतैर्व्याप्तं चित्तं क्षुब्धं भवेन्नृणाम् ॥ ३० ॥

अर्थ—योगाग्निसे दग्ध हुआ देह अजड़ और शोकरहित होता है। अपक्व देह जड़ और पार्थिव होता है और वह दुःख का देनेवाला होता है। अपक्वदेही इंद्रियसमूह को वलपूर्वक संयम में लाकर ध्यान में वैठे पर इंद्रियां उसे खींच ले जावेंगी और उसका ध्यान भंग हो जायगा। दूसरे कारणों से भी उसके ध्यान में वाधा पहुँचेगी ;—शीत, उष्ण, सुख, दुःख, मानसिक व्याधि अर्थात् दुश्चिंता, मच्छर, चींटी, खटमल सर्पादि नानाप्रकारके जन्तुओं द्वारा, अस्त्र, अग्नि, जल, वायु आदि के द्वारा, शरीर को पीड़ा पहुँचेगी और उससे चित्त चंचल हो जायगा। चित्त के चंचल होने से प्राण भी चंचल हो उठेंगे जिससे वायु चंचल हो जायगा। इस प्रकार सैकड़ों दुःखों से मनुष्य का चित्त क्षोभ को प्राप्त होता है। वावा! योग के द्वारा जिसका चित्त स्थिर हो गया है ऐसे योगी को दुःखादि विचलित नहीं कर सकते क्योंकि योगी के योगद्वारा शरीर और मन को जय करलेने से शरीर से उत्पन्न

सुख दुःख उसके चित्त को चंचल नहीं कर सकते। ऐसा स्थिरचित्त योगी ही ज्ञान विचार द्वारा आत्मसमाहित हो सकता है।

गीता में लिखा है कि मुक्ति साधन की निष्ठा दो प्रकार की है, आत्म अनात्म विषय का विवेक करनेवाले का ज्ञान-योग और कर्म करनेवाले का कर्मयोग*। किन्तु गीता में भगवान् साधनार्थी के लिये कर्मयोग को ही विशेष फलप्रद कहते हैं। वैदिक यज्ञादि और सन्ध्यावन्दनादि तथा योग-शास्त्रोक्त आसन, मुद्रा, और प्राणायामादि रूप कर्म चित्त-शुद्धि के लिए कहे गये हैं। वेद में भी प्राणायामादि रूप कर्म बताये हैं। वर्त्तमान समय में वैदिक यागयज्ञादि प्रायः लुप्त हो गये हैं। इसलिए सन्ध्यावन्दनादि और सद्गुरूपदिष्ट प्राणायामादि द्वारा, चित्त शुद्ध होने पर, आत्म अनात्म का विवेक करनेवाला ज्ञानी, जीव और ईश्वर के अभेद चिन्तन द्वारा, अखण्ड चैतन्यरूपी परमात्मा अर्थात् ब्रह्म का अपरोक्ष अनुभव प्राप्त कर सकता है। योगशिखोपनिषद्, अध्याय १, में लिखा है।

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः
विना देहेऽपि योगेन न मोक्षं लभते विधे ॥ २४ ॥

अर्थ—हे विधे! साधक यदि ज्ञाननिष्ठ, विरक्त, धर्मज्ञ और जितेन्द्रिय होवे पर योग विना (अर्थात् योग द्वारा चित्त शुद्धि प्राप्त किये विना) इस देह द्वारा मुक्तिलाभ न कर सकेगा।

हे वत्स! जैसे कच्चे बर्तन में जल भरने से वह धीरे २ निकल जाता है और बर्तन भी नष्ट हो जाता है उसी प्रकार

---

* ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनां।

योगहीन देह नाना रोगों को प्राप्त होकर चित्त को चञ्चल कर देती है और शरीर भी क्रमशः अकाल में नष्ट हो जाता है। पक्क और अपक्क ऐसे देह के दो भेद हैं। योगाग्नि द्वारा दग्ध देह पक्क है और योगहीन देह अपक्क है। योग (आसन, मुद्रा, प्राणायामादि) द्वारा शरीर और मन को स्थिर करके आत्मअनात्म के विवेक को प्राप्त हुआ ज्ञानी निर्विघ्नता से आत्मसमाधिस्थ हो सकता है। आसन द्वारा शरीर की स्थिरता, मुद्रा द्वारा शरीर की दृढ़ता, प्राणायाम द्वारा शरीर की लघुता, नाड़ीशुद्धि, प्रत्याहार द्वारा चित्त की अन्तर्मुखी गति, धारणा और ध्यान द्वारा चित्त की एकाग्रता, और समाधि द्वारा चित्त और मनका निरोध, ये प्राप्त होते हैं।

देखो वत्स! योगशास्त्रादि के सिवाय वेदान्त शास्त्र में भी लिखा है कि साधनचतुष्टय के विना केवल ज्ञान से ही कोई आत्मसमाहित नहीं हो सकता है। साधनचतुष्टय द्वारा जिसकी चित्त शुद्धि हो चुकी है ऐसे प्रशान्त धीर और विनीत शिष्य को ही गुरु अपरोक्ष ज्ञान को प्राप्त करानेवाले "तत्त्वमसि" आदि महावाक्यों का उपदेश करें:—

> प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च प्रक्षीण दोषाय यथोक्तकारिणे।
> गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत् सततं मुमुक्षवे॥
>
> वेदान्तसारः।

अर्थ—जिसका चित्त साधनादि द्वारा शान्त और एकाग्र है, जिसने इन्द्रियां जीत ली हैं, तपस्या से जिसके पाप क्षीण हो गये हैं जो अपने वर्णाश्रम के कर्म करने में तत्पर है, जो गुणवान और अपने गुरु का सदैव अनुगत है ऐसे ही मुमुक्षु को यह ब्रह्मज्ञान सर्वदा देना चाहिये।

हे पुत्र ! जिस प्रकार मलीन वस्त्र में रङ्ग नहीं लगता है वैसे ही अशुद्ध चित्त में उपदेश से अथवा आत्मअनात्म के विचार से कोई फल नहीं होता ; सुग्गा (शुक) के समान शिक्षामात्र होती है। जैसे शुक राधाकृष्ण इत्यादि नाम बोलना सीख लेता है पर बिल्ली के पकड़ने पर अपनी जाति का शब्द "टां टां" छोड़ और कुछ नहीं बोल सकता ; वैसे ही अशुद्ध चित्त से ज्ञान विचार करनेवाला केवल मुख से ही "अहं ब्रह्मास्मि" (मैं ब्रह्म हूँ) इत्यादि वाक्य बोलता है पर दुःख पड़ने पर "अरे ! हम मरे" "अरे ! हम गये" "अ रे रे !" इत्यादि अज्ञानियों के समान बकने लगता है।

शिष्य—गुरुदेव ! साधनचतुष्टय क्या हैं हमें समझा देवें।

गुरु—वत्स ! विवेक, वैराग्य, शमादि षट्सम्पत्ति, और मुमुक्षुत्व, इन चार साधनों को साधनचतुष्टय कहते हैं।

प्रथम साधन—'नित्यानित्यवस्तु विवेकः।' एकमात्र अखण्ड चैतन्य स्वरूप ब्रह्म ही नित्य है और उसके सिवाय सब अनित्य है ऐसा विवेक करते रहना।

दूसरा साधन—'इहामुत्र फलभोगविरागः।' नित्यानित्य वस्तु के विचार करने से नित्य वस्तु का ज्ञान दृढ़ होने से यहां के और परलोक के सुख भोग की इच्छा का नाश होता है और विराग आता है। ऐहिक गन्ध, माला, स्त्री आदि भोग्य विषय प्रयत्न करने से मिलते हैं और इस कारण वे सब अनित्य हैं। उसी प्रकार स्वर्गादि सुख भोग पदार्थ यत्न से मिलनेवाले और अनित्य हैं। इस प्रकार विषयों का अनित्यत्व और नश्वरत्व जान लेने से उनसे जो मन का फिर जाना है वही वैराग्य कहाता है।

तृतीय साधन—"शमदमादिषट्सम्पत्तिः।"

(१) शम—ब्रह्म और ईश्वर विषय को छोड़ बाकी संसार सम्बन्धीय सब विषयों से मन का जो फिर जाना है और ब्रह्म और ईश्वर विषयक श्रवणादिक बातों में मन का लगना यह शम कहाता है।

(२) दम—बाह्य इन्द्रियों (पञ्च कर्मेन्द्रियों और पञ्च ज्ञानेन्द्रियों) को विषयों से हटाकर अपने २ आधार में स्थापन करने का नाम दम है। अर्थात् दश इन्द्रियों के संयम को दम कहते हैं। दश इन्द्रियां ये हैं:—वाक्, हांथ, पांव, पायु (गुदा) और उपस्थ, ये पांच कर्मेन्द्रियां और चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वचा, ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं।

(३) उपरति—विषयों में प्रवृत्ति की एक बार निवृत्ति हो जाने पर फिर उस प्रवृत्ति का जाग्रत न हो सकना इसे उपरति कहते हैं। शास्त्र की आज्ञा के अनुसार कर्मकाण्ड त्यागपूर्वक संन्यास ग्रहण करना भी उपरति कहाता है।

(४) तितिक्षा—शरीर को नष्ट न करके शीतोष्णादि द्वन्द्वों का सहना।

(५) श्रद्धा—गुरु में और उनके उपदेश में विश्वास का नाम श्रद्धा है।

(६) समाधान—ईश्वर में चित्त के एकाग्र भाव का नाम समाधान है।

चतुर्थ साधन 'मुमुक्षुत्व'—दुःख की अत्यन्त निवृत्ति का नाम मुक्ति या मोक्ष है; उसकी प्राप्ति की इच्छा को मुमुक्षुत्व या मुमुक्षा कहते हैं।

शिष्य—गुरुदेव! जो योग को छोड़ केवल ज्ञान की साधना करता है उसका परिश्रम क्या भस्म में घृत की आहुति के समान बिलकुल व्यर्थ जायगा?

गुरु—वत्स ! नहीं, वह कैसे हो सकता है ? ज्ञानी मरने पर इस जन्म में किये पाप पुण्य का फल भोगेगा और उस भोग के अन्त में फिर जन्म ग्रहण करेगा। फिर पुण्य (अर्थात् ज्ञानचर्चा) के प्रभाव से सिद्ध योगी के सत्सङ्ग को प्राप्त होगा और उसकी कृपा से वह ज्ञानी सिद्धयोग को प्राप्त होगा। उस योग के कारण उसकी अविद्या नाश होगी। अविद्या के नाश से स्वयं प्रकाशरूप आत्मा प्रकाशित होगा।*

शिष्य—अच्छा, यदि कोई साधक ज्ञानचर्चा न कर केवल योग साधना करे तो क्या उसको भी, ज्ञानी के समान, जन्मान्तर में ज्ञान लाभ के पश्चात् मुक्तिलाभ होगा ?

गुरु—नहीं, वत्स ! जैसे ज्ञानी को बहुत जन्मों के ज्ञानाभ्यास के फल में योग लाभ होता है वैसा योगी को नहीं होता। योगी योग की सहायता से एक जन्म में ही ज्ञान प्राप्त करके मुक्ति लाभ करता है। इसलिए योग को छोड़ और कोई दूसरा सर्वश्रेष्ठ मोक्षदायक उपाय नहीं है। एक ही जन्म के शरीर द्वारा योगी धीरे धीरे योगाभ्यास करके दीर्घकाल में मर्कटक्रमसे, बन्दर के एक डाल से दूसरी डाल को लांघने के समान, मुक्ति लाभ करता है।‡

---

*देहान्ते ज्ञानिभिः पुण्यात्पापाच्च फलमाप्यते
ईदृशं तु भवेत्तत्तद्भुक्त्वा ज्ञानी पुनर्भवेत् ॥ ४९ ॥
पश्चात् पुण्येन लभते सिद्धेन सह सङ्गतिम् ।
ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा ॥ ५० ॥
ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभासितम् ।

(योगशिखोपनि० अ० १)

‡ ज्ञानं तु जन्मनैकेन योगादेव प्रजायते ।
तस्मात् योगात्परतरो नास्ति मार्गस्तु मोक्षदः ॥ ६३ ॥

शिष्य—हे पिता ! "मर्कटक्रम से मुक्ति" इसका तात्पर्य मुझे समझाइये।

गुरु—देखो वत्स ! वन्दर जैसे एक शाखा से दूसरी शाखा को और एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर कूंद कर आगे बढ़ता, क्रम-क्रम से इच्छित वृक्ष पर जाकर, ऊंची डाल का मनचाहा फल पालेता है वैसेही योगी सिद्धयोग की सहायता से प्राणवायु को सुषुम्णा मार्ग में प्रवेश करके एक चक्र से दूसरे चक्र में पहुँचता है। इस प्रकार वह छः चक्रों को भेदकर शरीररूपी वृक्ष के अग्रभाग (ब्रह्मतालु) स्थित ब्रह्मरन्ध्र में मन और प्राण को रोककर अखण्ड ज्ञान प्राप्त कर मुक्ति लाभ करता है। यही मर्कटक्रम की मुक्ति है।

शिष्य—हे पिता ! आप की कृपा से मैंने समझा कि मुक्ति के लिए योग और ज्ञान दोनों का दृढ़ अभ्यास आवश्यक है। पर इस समय मेरे मन में दो बातों का संशय आता है;—(१) यदि श्रद्धावान् साधक योग मार्ग में प्रवेश करके सिद्धि प्राप्त करने के पूर्व ही चित्तचंचलता से या इंद्रियसंयम न कर सकने के कारण योगभ्रष्ट हो जावे तो मृत्यु पीछे उसकी कैसी गति होगी ? (२) यदि कोई साधक योगसाधना में निष्ठावान् होकर भी सिद्धि लाभ के पूर्व ही देह त्याग करे तो उसकी क्या गति होगी ?

गुरु—हे वत्स ! तुम्हारे प्रश्न को सुनकर बहुत आनन्द हुआ। तुम्हारी शङ्का निवारणार्थ उसका उत्तर विस्तार

एकेनैव शरीरेण योगाभ्यासाच्छनैः शनैः
चिरात्संप्राप्यते मुक्तिर्मर्कटक्रम एव सः ॥ १४० ॥
(योगशिखोपनि० अ० १)

पूर्वक देते हैं। ध्यान देकर श्रवण करो। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुन के ऐसे ही प्रश्न का उत्तर देते हैं कि योगभ्रष्ट साधक का इस लोक और परलोक में कभी विनाश (अधोगति) नहीं होता। कल्याणकर्मकारी जन की कभी दुर्गति नहीं होती। योगपथ में प्राप्त होकर जो सिद्धि-लाभ के पूर्व ही चित्तचाञ्चल्य या इन्द्रियों के वेग के कारण योगभ्रष्ट होते हैं वे साधक मृत्यु के पश्चात् अपने पुण्य से स्वर्गादि लोकों में दीर्घकाल निवास कर शुद्ध धनवान् घरों में जन्म लेते हैं और वहां विशुद्ध भाव से विषय भोग करते पूर्व संस्कार के प्रभाव से फिर योग प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं। श्रद्धावान् साधक यदि योगसिद्धि के पूर्व ही देह त्याग करे तो उसका जन्म योगी के घर में होता है। ऐसा जन्म बहुत दुर्लभ होता है। ऐसे जन्म के प्रभाव से योगी के संसर्ग से उसकी पूर्व जन्म की योग बुद्धि अधिक जाग्रत हो उठती है और पूर्व संस्कारवश वह लाचार हो फिर योग सिद्धि के लिए अच्छी तरह प्रयत्नवान् होता है।*

योगशिखोपनिषद् में लिखा है कि यदि बुरे कर्म-विपाकवश साधक का मरण योगप्राप्ति के पूर्व ही हो जाय तो उसे अपनी पूर्व वासनानुकूल शरीर धारण करना पड़ता है। फिर वह अपने पूर्वयोग के पुण्य प्रभाव से सद्गुरु की संगति को प्राप्त होता है और उसकी कृपा से पश्चिम मार्ग (अर्थात् सुषुम्णापथ) में प्राणवायु का प्रवेश करके शीघ्र ही योगसिद्धि को प्राप्त होता है। पूर्वजन्मकृत योगाभ्यास के कारण ही इस प्रकार की शीघ्र फलप्राप्ति हो सकती है यह ध्यान में रखना चाहिये। योगी लोग इसे "काकमत"

---

* देखिये भगवद्गीता, अध्याय ६ श्लोक ४०-४४।

कहते हैं। काकमत रूप योगाभ्यास की अपेक्षा दूसरा कोई श्रेष्ठ अभ्यास और नहीं है। क्योंकि इसी उपाय से मुक्ति लाभ होती है इसमें कोई संशय नहीं है। यह शिवजी का कथन है।*

शिष्य—गुरुदेव ! "काकमत" क्या है यह कृपा कर समझा दीजिये।

गुरु—जैसे काग दोनों चक्षुओं की दृष्टि शक्ति को अपने लक्ष्य में भली प्रकार स्थापन करके उसका पूर्ण ज्ञान लाभ कर लेता है वैसे ही उत्तम साधक योग और ज्ञान दोनों को एकमात्र मोक्ष प्राप्ति में लगाकर साधन पूर्वक मोक्ष लाभ कर लेता है। इस प्रकार के योग और ज्ञानयुक्त साधना को 'काकमत' नाम दिया गया है।

हे वत्स ! तुम अब समझ गये हो कि योग साधक की अभी अथवा आगे कभी दुर्गति नहीं होती। इसलिए सबका कर्त्तव्य है कि योगप्राप्ति के लिए यत्नवान् होवें। अकेले योग से ही "एक विज्ञान के ज्ञात होने से सब ज्ञात हो जाता है" इस कथनानुसार सब विषयों का ज्ञान लाभ होता है। शिवजी ने कहा हैः—

---

* योगसिद्धिं विना देहः प्रमादाद्यदि नश्यति।
पूर्ववासनया युक्तः शरीरं चान्यदाप्नुयात् ॥ १४१ ॥
ततः पुण्यवशात्सिद्धो गुरुणा सह संगतः।
पश्चिमद्वारमार्गेण जायते त्वरितं फलं ॥ १४२ ॥
पूर्वजन्मकृताभ्यासात्सत्वरं फलमश्नुते।
एतदेव हि विज्ञेयं तत्काकमतमुच्यते ॥ १४३ ॥
नास्ति काकमतादन्यादभ्यासाख्यमतः परम्।
तेनैव प्राप्यते मुक्तिर्नान्यथा शिवभासितम् ॥ १४४ ॥

आलोक्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः ।
इदमेकं सुनिष्पन्नं योगशास्त्रं परं मतम् ॥
यस्मिन् ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातं भवति निश्चितम् ।
तस्मिन् परिश्रमः कार्यः किमन्यत् शास्त्रभाषितम् ॥

(शिवसंहिता)

अर्थ—सर्व शास्त्रों का अध्ययन करने से और पुनः पुनः विचार द्वारा यही निश्चित होता है कि योगशास्त्र ही सबसे श्रेष्ठ है। क्योंकि इससे ज्ञान लाभ होने से ही सारे जगत् का निश्चित ज्ञान होता है। इसलिए इस योग विषय में सबको परिश्रम करना उचित है। अन्य शास्त्र के अध्ययन का क्या प्रयोजन है ?

इसी से श्रीकृष्ण भगवान् योगी को सबसे श्रेष्ठ बताकर अर्जुन को योगी बनने का आदेश करते हैंः—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

भ० गीता । अ० ६ ।

अर्थ—योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ, शास्त्रज्ञानियों की अपेक्षा श्रेष्ठ, और सकाम कर्मकांडियों से भी श्रेष्ठ है। इसलिए हे अर्जुन ! तुम योगी होओ ।

हे वत्स ! योग विषय का जिज्ञासु भी परम फल पाता है। गीता में भगवान् ने कहा हैः—

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते । (अ० ६ श्लो० ४४)

अर्थ—योग का जिज्ञासु व्यक्ति भी शब्दब्रह्म अर्थात् वेद के कर्म कांड को लांघ जाता है ।

वास्तव में कर्मकांड का अनुष्ठान करते करते जब उसके प्रति तथा उसके फलरूप स्वर्गादि सुखभोग प्रति अनास्था उत्पन्न होवे तब ही मनुष्य इहामुत्रफल भोग से विरक्त होकर योगपथ ढूंढ़ने में प्रवृत्त होता है। इसीलिए कहा है कि जब किसी को योगजिज्ञासा अर्थात् योग मार्ग को ढूंढ़ने की इच्छा उत्पन्न होवे तब उसके कर्मकांड का तथा उस कर्मकांड के फल का समय बीत चुका।

दूसरा अध्याय

शिष्य—करुणासिन्धो ! योग क्या है और उसे किस उपाय से प्राप्त करना चाहिये सो मैं आपकी कृपा से जानना चाहता हूं।

गुरु—हे पुत्र ! योग विषय में तुम्हारी जिज्ञासा वा आग्रह देख बहुत आनन्द होता है। तुम्हारे उत्साह को बढ़ाने के लिए उसे विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं। योग और उसके उपायों को जानकर उसकी साधना में तुम्हारे लग जानेसे ही हम अपना परिश्रम सार्थक मानेंगे।

योऽपानप्राणयोरक्यं स्वरजोरेतसोस्तथा ।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः ॥ ६८ ॥
एवं तु द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग उच्यते ।
(योगशिखोप० अ० १)

अर्थ—प्राण और अपान की एकता, गुह्य देशस्थ रक्त-वर्ण शक्ति और तालुदेशस्थ शुक्ल वर्ण शक्ति का मिलन, नाभिस्थ सूर्य और मस्तकस्थ चन्द्र का संयोग, और जीवात्मा परमात्मा का एकीभाव यही योग कहाता है। इन्हीं दो दो के संयोग को योग कहते हैं।

देवीभागवत में कहा हैः—

न योगो नभसः पृष्टे न भूमौ न रसातले ।
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः ॥

अर्थ—योग स्वर्ग में नहीं है, भूमि पर नहीं है, न रसातल में है। योग के जाननेवाले जीवात्मा और परमात्मा की

एकता साधन को ही योग कहते हैं। हे वत्स! साधारण भाव से योग शब्द से हम क्या समझते हैं? सोचो। कुछ संख्याएं हैं जैसे १, २, ३, ४ इत्यादि; उनके जोड़ को, एकीकरण को, तो योग कहते हैं। वैसे ही दृश्य जगत् में जो भिन्न भिन्न प्रकार के नाम और रूप हैं उन्हीं के एकीकरण को अर्थात् एक में लय करने को योग कहते हैं। ये ही भिन्न २ नाम और रूप मन या चित्त में वर्तमान् हैं। इसलिए अकेले मन या चित्तवृति के निरोध द्वारा ही योग सध सकता है। पातंजल योग सूत्र में कहा है, "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" ।१।

हे वत्स! चित्तवृत्ति का निरोध होने से पूर्व कथित द्वन्द्व समूह का योग भी आप से आप हो जाता है क्योंकि चित्त-वृत्ति के होने से ही एकत्व में बहुत्व का दर्शन होता है। चैतन्यस्वरूप आत्मा वृत्तिस्थ होने के कारण चित्त की चंचलता में चंचल, स्थिरता में स्थिर, सुख में सुखी, दुःख में दुखी, परिणाम में परिणामी मालूम पड़ता है। वास्तव में आत्मा में ये सब धर्म नहीं हैं। जैसे स्वच्छ स्फटिक के निकट लाल जवा या जासोन के फूल रखने से उनका लाल रंग स्फटिक में झलकने लगता है, स्फटिक के ऊपर आरोपित होता है, वैसे ही चित्त अपना धर्म चैतन्य स्वरूप निर्विकार आत्मा में आरोपित करता है। जैसे जासोन (जवा) का फूल अपना धर्म स्फटिक में प्रकट करता है और वह स्फटिक की उपाधि कही जाती है वैसे ही हम चैतन्य स्वरूप की उपाधि चित्त है। उपाधि के लय हो जाने से उपहित अर्थात् असल पदार्थ का स्वरूप प्रकट होता है। यही चित्तवृत्ति-निरोध का प्रयोजन है। चित्तवृत्तिनिरोध होने से चिति शक्ति अर्थात् आत्मा स्वरूप में स्थित हो जाता है। इसलिए सब अनर्थ के मूल चित्त की यत्न के साथ चिकित्सा करना

यह प्रथम प्रयोजन है। क्योंकि चित्त में ही स्वर्ग, मर्त्य, अन्तरिक्ष ये तीन लोक वर्तमान हैं। चित्त के क्षय होने से तीनों लोक क्षय को प्राप्त होते हैं।*

हे पुत्र ! सर्व जीवस्थित चित्त प्राण वायु द्वारा भली भांति वंधकर रुक जाता है। जैसे रस्सी से वंधा पक्षी अटका रहता हैं वैसे ही चित्त भी प्राणवायु द्वारा वंधा रहता है। नाना विधि विचार से मन वश में नहीं होता। इसलिए मन को वश में करने के लिए प्राण का जय करना आवश्यक है।† वास्तव में प्राणस्पन्दन (प्राणगति) ही चित्त है। प्राण का स्पन्दन रुका कि चित्त भी स्थिरता को प्राप्त होता है।

चित्त और मन एक ही वात है। कोई विशेष भेद नहीं है यह याद रखो। जहां मन लिखा हो वहां चित्त समझना। अव प्राण को कैसे जय करना यह कहते है।

एकमात्र सिद्धयोग के सिवाय तर्क, कथा, विविध शास्त्र-वाक्य, युक्ति, मंत्र वा औषधि किसी द्वारा प्राणवायु का जय नहीं हो सकता।‡ हे वत्स ! सिद्धोपाय, सिद्धिमार्ग वा सिद्ध-

---

* चित्तं कारणमर्थानां तस्मिन् सति जगत्त्रयम्।
तस्मिन् क्षीणे जगत्क्षीणं तत् चिकित्स्यं प्रयत्नतः॥

† चित्तं प्राणेन संवद्धं सर्वजीवेषु संस्थितम्।
रज्ज्वा यद्वत्सुसंवद्धः पक्षी तद्वदिदं मनः॥ ५९॥
नानाविधैर्विचारैस्तु न वाध्यं जायते मनः।
तस्मात्तस्य जयोपायः प्राण एव हि नान्यथा॥ ६०॥
(योगशिखोप अ० १)

‡ तर्कैर्जल्पैः शास्त्रजालैर्युक्तिभिर्मन्त्रभेषजैः।
न वशो जायते प्राणो सिद्धोपायं विना विधे॥ ६१॥
(योगशिखोप० अ० १)

योग एक ही बात है। प्रथम अध्याय में तुम्हें भली भांति समझा दिया है कि यह सिद्धिमार्ग क्या है। उसका तुम को स्मरण होगा। गुरु निज साधनशक्ति शिष्यों में संचार करके शिष्य की योगशक्ति (कुण्डलिनी शक्ति) का उद्बोधन (जागरण) करता है। उसके उपदेश किये मंत्रजप और ध्यान द्वारा ही जो स्वाभाविक योग लाभ होय वही सिद्धोपाय है। कुलार्णव तंत्र इस प्रकार की दीक्षा को वेधदीक्षा कहता है। उसके चौदहवें उल्लास में सदाशिव देवी को कहते हैं :—

आजानुनाभिहृत्कंठतालुमूर्धान्तमम्बिके ।
गुरूपदिष्टमार्गेन वेधं कुर्याद्विचक्षणः ॥

अर्थ—हे अम्बिके बुद्धिमान् व्यक्ति गुरु के उपदेशानुसार जानु से नाभि, नाभि से हृदय और कंठ, और कंठ से तालु और मूर्द्धा का वेध करे।

गुरूपदिष्ट मंत्र या गुरु के स्पर्श, दृष्टि वा मनन द्वारा ही शिष्य में शक्ति संचारित होती है। संचारित शक्ति शिष्य के षट्चक्रों का वेध करके उसे दिव्य ज्ञान देती है।

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुंडली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रंथयोऽपि च ॥

हठयोग प्र० ३-२

अर्थ—जब श्रीगुरुजी की कृपा से मूलाधारस्था और सोती कुंडलिनी शक्ति जगती है तब षट्चक्रों का और ब्रह्म, विष्णु और रुद्र, तीन ग्रन्थियों का क्रमशः भेदन होता है।

ये तीन ग्रन्थियां तीन गुणों के स्थान हैं। शक्ति के तीन गुणों को लांघ कर ब्रह्मरंध्र में स्थित होने पर साधक को दिव्यज्ञान (अखंडचैतन्य का बोध) होता है।

शिष्य—गुरुदेव ! आप की कृपा से इतना समझा कि अकेली गुरुसंचारित शक्ति द्वारा ही कुंडलिनी शक्ति जागरित होकर आप से आप योग क्रिया (आसन प्राणायामादि) होने लगती है। और उसके पश्चात् साधक को योग अर्थात् जीव ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान प्राप्त होता है। अब स्पर्श, दृष्टि और मनन द्वारा शक्ति कैसे संचारित होती है सो जानने की बड़ी इच्छा है।

गुरु—हे पुत्र ! तुमने हमारे उपदेश को समझा सो आनन्द की बात है। स्पर्श, दृष्टि, और मनन, ये तीन उपाय हैं जिनसे वेधदीक्षा या शक्तिसञ्चार होता है। कुलार्णव तंत्र, १४ उल्लास में लिखा है:—

यथा पक्षी स्वपक्षाभ्यां शिशून् संवर्धयेच्छनैः ।
स्पर्शदीक्षोपदेशश्च तादृशः कथितः प्रिये ॥ ३४ ॥

अर्थ—जैसे पक्षी स्वपक्ष द्वारा अण्डे के भीतर के बच्चे को धीरे २ बढ़ाता है उसी प्रकार गुरु स्पर्श द्वारा शिष्य की भीतर की शक्ति को जाग्रत करता है। इसी को स्पर्शदीक्षा या स्पर्श द्वारा शक्तिसंचार कहते हैं।

स्वापत्यानि यथा मत्स्यो वीक्षणेनैव पोषयेत् ।
दृग्भ्यां दीक्षोपदेशश्च तादृशः परमेश्वरि ॥ ३९ ॥

अर्थ—जैसे मत्स्य केवल दृष्टि द्वारा ही निज बच्चों को पोषण करता है वैसे ही गुरु केवल अपनी दृष्टि द्वारा ही अपने शिष्य में शक्तिसञ्चार करता है। इसे दृग्दीक्षा कहते हैं।

यथा कूर्मः स्वतनयान्ध्यानमात्रेण पोषयेत् ।
वेधदीक्षोपदेशश्च मानुषस्य तथाविधिः ॥ ३६ ॥

अर्थ—जैसे कछुआ चिन्ता द्वारा ही भूमि भीतर रखे अण्डों में से अपने बच्चों को निकालता है वैसे ही गुरु केवल मनन द्वारा ही शिष्य की शक्ति जागरित करता है। इस वेध दीक्षा को अथवा शक्तिसञ्चार को मानस दीक्षा कहते हैं। वायवीय संहिता में इसी वेधदीक्षा को शांभवी दीक्षा कहा हैः—

गुरोरालोकमात्रेण स्पर्शात्संभाषणादपि ।
सद्यः संज्ञा भवेज्जन्तोर्दीक्षा सा शांभवी मता ॥

अर्थ—गुरु की दृष्टि, स्पर्श, अथवा वाक्य द्वारा जो तुरन्त एक प्रकार का ज्ञान या अनुभव उत्पन्न होवे उसे शांभवी दीक्षा कहते हैं।

इसलिए वेधदीक्षा, शांभवीदीक्षा, और सिद्धयोग तीनों एकही वस्तु हैं और ये शक्ति सञ्चार द्वारा ही प्राप्त होते हैंः—

शक्तिपातानुसारेण शिष्योऽनुग्रहमर्हति ।
यत्र शक्तिर्न पतति तत्र सिद्धिर्न जायते ॥ ३७ ॥

कुलार्णव तंत्र ॥ १४ ॥

शक्तिसञ्चार की मात्रा के अनुसार ही शिष्य को अनुग्रह मिलेगा। जहां शक्तिसञ्चार नहीं होता वहां सिद्धि लाभ न होगी।

हे वत्स ! जैसे पिता का वीर्य माता के रज से मिलकर योग्य काल में संतान उत्पन्न करता है ; वैसेही गुरु शक्ति शिष्य में सञ्चारित होकर उसकी भीतर की शक्ति को जगा कर यथाकाल में ज्ञानरूप संतान उत्पन्न करने की सम्भावना रखती है। गर्भ धारण करने पर स्त्री को जैसे गर्भ की रक्षा और सुप्रसव के लिए सावधान रहकर और आचार नियमादि पालन कर गर्भ को वढ़ाने का सुअवसर देना पड़ता है, नहीं

तो गर्भ नष्ट होने की भी सम्भावना हो सकती है, वैसेही शक्ति-सञ्चार के पीछे शिष्य को भी ज्ञानउत्पत्ति के लिए गुरु के बताये आचार नियमादि पालन कर जाग्रत शक्ति को उन्नति प्राप्त करने की सुविधा देनी पड़ती है; नहीं तो ज्ञान उत्पत्ति के लाभ की सम्भावना नहीं है।

शिष्य—देव! शिष्य में शक्ति सञ्चारित होने पर उसे किस प्रकार का अनुभव होता है? या केवल गुरु के कथन पर ही विश्वास करना पड़ेगा कि हममें शक्ति सञ्चारित हुई है?

गुरु—हे वत्स! शक्ति देखी तो जाती नहीं है पर उसके कार्य के अनुभव से तुमको विश्वास होगा कि हममें शक्ति-सञ्चार हुआ है। पूर्व में वायवीय संहिता से लेख उद्धृत कर आये हैं जिसमें लिखा है कि "शांभवीदीक्षा" अर्थात् शक्तिसञ्चार द्वारा तुरन्त एक प्रकार का अनुभव होता है। कुलार्णव तन्त्र में लिखा है कि वेध दीक्षा प्राप्त होने पर शिष्य में क्रमशः आनन्द, कम्प, आसन से उत्थान और दार्दुरीगति (बैठे बैठे मेंड़क के समान आप से आप उछलना), घूर्णा (घूमना या डोलना) निद्रा और मूर्छा ये छः लक्षण प्रगट होंगे*। शक्तिसञ्चार होने पर किसी को इनमें से एक या उससे अधिक या सब लक्षण अति अल्प समय में प्रगट होंगे। योगशिखोपनिषद् में सिद्धयोग प्राप्ति के लक्षण केवल कम्पानुभूति ही वर्णित है।

"यदानुध्यायते मंत्रं गात्रकम्पोऽथ जायते" ॥ १-७० ॥

अर्थ—गुरु के उपदेश किये मन्त्र ध्यान वा जप करने से शरीर में कम्प उपस्थित होता है।

---

*आनन्दश्चैव कंपश्चोद्भवो घूर्णा कुलेश्वरि।
निद्रा मूर्च्छा च वेधस्य षडवस्था प्रकीर्तिता ॥ १४।६३ ॥

हे वत्स! इस प्रकार के अनुभववाली जो साधना है वही साधक को क्रमशः सिद्धि की ओर आगे बढ़ाती है। साधना करने पर भी यदि कोई अनुभव न होवे तो फिर साधक को तीव्र उत्साह कैसे आ सकता है? इसलिए देखा जाता है कि आरम्भ में बहुतसे तीव्र उत्साह सहित साधनामें प्रवृत्त होकर अनुभूति के न होने से फिर भङ्गउत्साह हो जाते हैं और साधना छोड़ देते हैं।

देखो वत्स! जैसे किसी ने तुम से कहा कि "इस तालाब में मत्स्य हैं, तुम बंसी डालो तो मच्छी मिलेगी" उसके कहे अनुसार तुम ने वास्तव में बंसी डाली और १०-१२ दिन तक बराबर डालते रहने से कोई भी मच्छी बंसी में न फंसी तो फिर और धैर्य रखकर बंसी पर बैठने की इच्छा होगी क्या? मच्छी पकड़ी न भी जाय पर तालाब में देखी भी जाय तो मन में विश्वास होगा कि धैर्य रखकर बैठने से एक दिन मत्स्य पकड़ सकेंगे। उसी प्रकार साधना आरंभ करने पर उसे यदि कोई भी अनुभूति न हो तो ऐसी अवस्था में उसे धैर्य रख साधन करना कैसे अच्छा लगेगा। वास्तव में साधना के अनुभूतियुक्त न होने से साधक सिद्धि के मार्ग में किसी प्रकार अग्रसर नहीं हो सकता। योगसूत्र के भाष्यकार व्यासदेव अपने भाष्य में लिखते हैं:—

यद्यपि हि तत्तच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशैरवगतमर्थतत्त्वं सद्भूतमेव भवति एतेषां यथाभूतार्थप्रतिपादनसामर्थ्यात् तथापि यावदेकदेशोऽपि कश्चिन्न स्वकरणसंवेद्यो भवति तावत्सर्वं परोक्षमिव अपवर्गादिषु सूक्ष्मेष्वर्थेषु न दृढां बुद्धिमुत्पादयति। तस्माच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशोपोद्बलनार्थमेवावश्यं कश्चित् विशेषः प्रत्यक्षीकर्तव्यः। तत्र तदुपदिष्टार्थैकदेशप्रत्यक्षत्वे सति सर्वं सुसूक्ष्मविषयमपि आ-अपवर्गात् सुश्रद्धीयते।

अर्थ—आगम, अनुमान और गुरुवाक्यादि रूप प्रमाण, ये सब जान लिये जावें और उनकी यथार्थता संबंध में कोई शंका भी न रहे (उनका यथार्थ स्वरूप प्रतिपादन या बताने के कारण) तथापि उक्त प्रमाणों के होनेपर भी बताये हुए विषय का कोई एक अंश भी जब तक प्रत्यक्ष ज्ञानगोचर न हो जावे तब तक वह सब उपदिष्ट विषय केवल परोक्षज्ञान ही है और अपवर्ग अर्थात् मोक्षादि सूक्ष्म विषयसमूह में संशयरहित बुद्धि (या श्रद्धा) उत्पन्न नहीं होती। इसलिए आगम, अनुमान और गुरुवाक्यादि प्रमाणों के होने पर भी उस विषय के एक अंश का भी प्रत्यक्ष अनुभव आरंभ में प्राप्त करना आवश्यक है। ऐसे एक अंश के भी प्रत्यक्ष होने पर मोक्षादि अति सूक्ष्म विषयसमूह में पूरी श्रद्धा उत्पन्न होगी।

हे वत्स! गुरुवाक्य, शास्त्र और निज अनुभूति ये तीनों यदि एकसे हों और मिलते हों तो फिर उस तत्व संबंध में और कोई संशय नहीं हो सकता। इस प्रकार के निश्चित अनुभवयुक्त ज्ञान की सहायता ही से साधक सिद्धिलाभ कर सकता है। ऐसे अनुभूतियुक्त अभ्यास से साधक यथा-समय में सत्य स्वरूप आत्मा का अपरोक्ष अनुभव प्राप्त करने में समर्थ होता है *।

हे पुत्र! जो शक्तिसंचार करे वही गुरु और जिसमें शक्ति संचार हो वही शिष्य। ऐसे शिष्य को आत्मज भी कहते हैं। शक्ति संचारक ही गुरु है यह बात शास्त्र में भी कही है:—

---

* स्वानुभूतेश्च शास्त्रस्य गुरोश्चैवैकवाक्यता।
यस्याभ्यासेन तेनात्मा सततं चावलोक्यते॥

(महोपनिषद्, अ० ४, श्लो० ९)

दर्शनात् स्पर्शनात् शब्दात् कृपया शिष्यदेहके ।
जनयेद्यः समावेशं शांभवं सहि दैशिकः ॥

(योगवाशिष्ठ, नि० प्र०, पू०, १२८, ६१)

अर्थ—जो कृपापूर्वक दर्शन, स्पर्श किंवा शब्द (मंत्र का उपदेश) द्वारा शिष्यदेह में मंगलमय अनुभूति करा सके वही गुरु है ।

गुरोर्यस्यैव संस्पर्शात् परानन्दोऽभिजायते ।
गुरुं तमेव वृणुयात् नापरं मतिमान्नरः ॥

(कुलार्णव तंत्र उ० १३)

अर्थ—जिसके स्पर्श से शिष्य को परानंद अनुभव होवे वही गुरु योग्य है। बुद्धिमान् शिष्य उसी को गुरुपद के लिये पसंद करे ; दूसरे को नहीं ।

मंत्रचैतन्यविज्ञाता गुरुरुक्तः स्वयंभुवा । गौतमीयतंत्रे ।

अर्थ—जो मंत्र को चैतन्य बना सके वही गुरु स्वयंभू (ब्रह्मा) ने बताया है ।

हे वत्स ! कुंडलिनी शक्ति जागरण और मंत्र चैतन्य एक ही बात है यह ध्यान में रखना ।

शिष्य—गुरुदेव ! आपने गुरु के जो लक्षण बताये वैसा गुरु सबको मिलना कठिन है। जिसने अपने कुलगुरु से अथवा दूसरे किसी गुरु से दीक्षा ली है वह यदि मंत्रचैतन्य अथवा शक्तिसंचार के हेतु फिरकर नया गुरु ग्रहण करे तो उसे गुरुत्याग का अपराध न लगेगा ?

गुरु—हे वत्स ! तुमने समयोपयोगी अच्छा प्रश्न पूछा । "आत्मा वै गुरुरेकः" अर्थात् आत्मा ही एकमात्र गुरु है ।

वह पूर्व पूर्व के गुरुओं का भी गुरु है*। उसका कोई गुरु नहीं है। उसका तत्व और स्वरूप जानने के लिए ही मनुष्य-गुरु करना पड़ता है। यदि एक मनुष्यद्वारा तत्वपिपासा न मिटे तो अन्य गुरु ग्रहण करने में अपराध नहीं होता। कुलार्णव तंत्र, उल्लास १३ में लिखा है:—

> अनभिज्ञं गुरुं प्राप्य संशयच्छेदकारकम् ।
> गुर्वन्तरं तु गत्वा स नैतद्दोषेण लिप्यते ॥ १०९ ॥
> मधुलुब्धो यथा भृंगः पुष्पात् पुष्पान्तरं व्रजेत् ।
> ज्ञानलुब्धस्तथा शिष्यो गुरोर्गुर्वन्तरं व्रजेत् ॥ ११० ॥

अर्थ—अज्ञानी गुरु के पास संशय का नाश न हो तो शिष्य दूसरे संशय नाश करने में समर्थ गुरु के पास जा सकता है। उसमें उसे कोई दोष न होगा। जैसे मधुमक्खि मधु की आशा से एक पुष्प से दूसरे पुष्प को जाती है वैसे ही ज्ञान का ढूंढ़नेवाला शिष्य एक गुरु करके दूसरा और गुरु कर सकता है।

शिवपुराण में शिवजी ने कहा है:—

> यत्रानन्दः प्रबोधो वा नाल्पमप्युपलभ्यते ।
> वत्सरादपि शिष्येण सोऽन्यं गुरुमुपानयेत् ॥

अर्थ—जिस दीक्षा में शिष्य को अल्पमात्र भी आनन्द या प्रबोध प्राप्त न हो उस दीक्षा के पीछे एक वर्ष तक उस दीक्षा गुरु के आदेशानुसार साधना साधने पर भी आनन्द या प्रबोध प्राप्त न हो तो अन्य गुरु का आश्रय लेना चाहिये।

---

* स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।

(पातंजल योगसूत्र १-२६)

हे वत्स ! विद्यालय के सब ही शिक्षक सब विद्याओं के पारदर्शी नहीं होते। जो शिक्षक जिस विद्या का पारदर्शी है उस विद्या को पढ़नेवाला छात्र उस शिक्षक के निकट ही उस विद्या को पढ़ता है। उसमें दोष कैसे हो सकता है। सारा लोकसमूह शास्त्र के मर्म को न जानकर कुसंस्कार में फंसा है इसी से धर्म नष्ट हुआ है। अनुष्ठान है, उद्देश्य नहीं है। ज्ञान लाभकरानेवाले गुरु को करना आवश्यक है। वार्षिक रुपया लेकर देनेवाला गुरु नहीं होना चाहिये। आजकल गुरुपद किसी २ जगह पैसा कमाने का एक धन्धा होगया है। हे वत्स ! धन लेनेवाले गुरु बहुत हैं किन्तु संतापहारी गुरु अति दुर्लभ होते हैं। *

शिष्य—अच्छा गुरुदेव ! मन्त्र चैतन्य वा शक्तिसञ्चार होने से गात्र कंपन आदि क्यों उपस्थित होते हैं ?

गुरु—हे पुत्र ! तुमने अच्छा प्रश्न किया। इसका उत्तर हम आगेके दिनके उपदेश में प्रसङ्ग क्रमसे तुमको समझा देवेंगे। इस समय उसकी चिन्ता मत करो।

———

* गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः ।
दुर्लभोऽयं गुरुर्देवि ! शिष्यदुःखापहारकः ॥
(गुरुगीता । कुलार्णवतंत्र उ० १३-८९)

तीसरा अध्याय

शिष्य—भगवन्! मन्त्र क्या है, मन्त्र चैतन्य की आवश्यकता क्या है, कुण्डलिनी शक्ति भी क्या है, ये बातें आप कृपाकर मुझे अच्छी तरह समझा दीजिये। आपका उपदेशामृत पान करके हमारी ज्ञान पिपासा क्रमशः बढ़ती जाती है।

गुरु—हे पुत्र! तुमने अच्छा प्रश्न पूछा है। धीरे २ तुम्हारे प्रश्न का समाधान करते हैं। ध्यान से सुनो। जहां न समझो वहां ऐसे ही प्रश्न करने से तुम्हारा संशय दूर हो जायगा। मन्त्र क्या है सो अभी सुनो।

मननात् त्रायते यस्मात् तस्मात् मंत्रः प्रकीर्तितः।

अर्थ—जो मनन करने से रक्षा करे वही मन्त्र कहाता है अर्थात् जिसके मनन होने से रक्षा हो वही मन्त्र है।

मनन अर्थात् चिन्ता; चिन्ता मन का धर्म है। मन के लय होने से चिन्ताराशि का त्याग होता है। चिन्ताराशि के त्याग से निश्चिन्ततारूपी योग लाभ होता है। प्राण ही मन की रक्षा करता है क्योंकि प्राण स्पंदन ही मन है। प्राण के स्पंदनरहित या कम्परहित होने से मन की रक्षा होती है, अर्थात् मन सब विषयचिन्ता से रहित होकर आत्म तत्व में लीन होता है। जब प्राण इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा नाडियों को छोड़ सहस्रारस्थित ब्रह्मरन्ध्र में लीन होता है तब मन भी लय हो जाता है। इडा तमोगुण प्रधान, पिङ्गला रजोगुण प्रधान, और सुषुम्णा सतोगुण प्रधान है। जब प्राण इडा और पिङ्गला में प्रवाह करता है तब मन वा चित्त रजोगुण वा तमोगुण

से ढंककर चञ्चल होता है और विषय भोग की ओर खिंचता है। जब गुरुकृपा से प्राण सुषुम्णा में प्रवेश करता है तब सतोगुण के बढ़ने से मनमें आत्मतत्व के प्रति एकाग्रता और सविकल्प आनन्द लाभ होते हैं और उससे आगे ब्रह्मरन्ध्र में लय प्राप्त होने पर मनको निरुद्धता या निर्विकल्पता मिलती है। इसलिए देखो प्राण ही मन्त्र हुआ।

ब्रह्मादितृणपर्यंतम् प्राणिनाम्प्राणवर्द्धनम् ।
निःश्वासोच्छ्वासरूपेण मंत्रोऽयं वर्त्तते प्रिये ॥

अर्थ—(शिवजी उमाको कहते हैं कि) हे प्रिये! ब्रह्मा से तृण पर्यन्त प्राणियों का प्राणवर्धन करनेवाला उच्छ्वास और निःश्वास ही मन्त्र है।

योगचूड़ामणि उपनिषद् में लिखा है :—

हंकारेण वहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ॥३१॥
हंसहंसेत्यमुं मंत्रं जीवो जपति सर्वदा ।
षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः ॥३२॥
एतत्संख्यान्वितं मंत्रं जीवो जपति सर्वदा ।
अजपानाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा ॥३३॥

अर्थ—हंकार पूर्वक प्राणवायु वाहर आता है और सकार पूर्वक भीतर जाता है। जीव सर्वदा इस "हंस" मन्त्र को इस प्रकार दिनरात में २१,६०० वार जपता है। यही अजपानाम की गायत्री योगियों को मोक्ष देनेवाली होती है।

इसलिए प्राणशक्ति स्वरूपा मूलाधारस्था कुंडलिनी से मन्त्र की उत्पत्ति है।

कुंडलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी ॥३६॥
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥

(योगचूड़ामणि उप०)

अर्थ—कुंडलिनी ही प्राणशक्तिमयी गायत्री का उत्पत्ति-स्थान है; यही गायत्री ही प्राणविद्यारूपा महाविद्या है। जो इस विद्या को जानते हैं वे ही वेदवित् कहाते हैं।

कुंडलिनी शक्ति ही जीवकी जीवनी शक्ति या प्राण शक्ति है।* इसी शक्ति के कारण अकार से क्षकार पर्यन्त सब अक्षरों की और अक्षरमयी मन्त्रशक्ति समूह की उत्पत्ति हो सकती है। योगशिखोपनिषद्‌ में लिखा है :—

मूलाधारगता शक्तिः स्वाधारा विन्दुरूपिणी ॥२॥
तस्यामुत्पद्यते नादः सूक्ष्मबीजादिवांकुरः।
तां पश्यन्तीं विदुर्विश्वं यया पश्यन्ति योगिनः ॥३॥
हृदये व्यज्यते घोषो गर्जत्पर्जन्यसंनिभः।
तत्र स्थिता सुरेशान मध्यमेत्यभिधीयते ॥४॥
प्राणेन च स्वराख्येन प्रथिता वैखरी पुनः।
शाखापल्लवरूपेण ताल्वादि स्थान घट्टनात् ॥५॥
अकारादि क्षकारान्तान्यक्षराणि समीरयेत्।
अक्षरेभ्यः पदानि स्युः पदेभ्यो वाक्यसंभवः ॥६॥
सव वाक्यात्मका मंत्रा वेदशास्त्राणि कृत्स्नशः।
पुराणानि च काव्यानि भाषाश्च विविधा अपि ॥७॥
सप्तस्वराश्च गाथाश्च सर्वे नादसमुद्भवाः।
एषा सरस्वती देवी सर्वभूतगुहाश्रया ॥८॥ अध्याय ३ ॥

अर्थ—मूलाधारस्था कुंडलिनी शक्ति विन्दुरूपिणी, यही स्व अर्थात् आत्मा का आधार है। (जीवात्मा इसी का आश्रय करके स्थित है) सूक्ष्म बीज से जैसे अंकुर होता है वैसे ही कुंडलिनीरूपा सूक्ष्म प्राणशक्ति से नाद की उत्पत्ति

---

* "सा देवी वायवी शक्तिः" (रुद्रयामल); अर्थात् वही (कुण्डलिनी) देवी वायवी शक्ति (अर्थात् प्राण शक्ति) है।

होती है। योगीगण इसके (नाद की इसी अंकुरावस्था के) द्वारा ही नाद की विश्व अवस्था का दर्शन करते हैं। नाद की इस अवस्था का नाम पश्यन्ती है। इससे आगे नाद हृदय देश में पहुंचता है और मेघगर्जन के समान वहां गुरु गुरु ध्वनि उत्पन्न होती है। हे सुरेश्वर ब्रह्मन्! नाद की इस हृदयस्थ अवस्था को मध्यमा कहते हैं। इससे आगे उठ कर नाद जब प्राण वायु के योग से (कण्ठ होकर) स्वर (आवाज़ या शब्द) नाम पाकर बाहर निकलता है तब उसे वैखरी (प्रखर या सुस्पष्ट शब्द) कहते हैं। यही वैखरी शब्द कण्ठ-तालु-मूर्द्धादि स्थान समूह को आघात करके शाखापल्लव (पत्ते) रूप से अकार से क्षकार तक अक्षरों के रूप में प्रकट होता है। अक्षरों के समूह से पद और पदों के इकट्ठे होने से वाक्य प्रकट होते हैं। सकल मन्त्र, सारे वेद, शास्त्र, पुराण, और काव्य समूह, भाषा के नाना प्रकार, सप्तस्वरयुक्त गीत समूह, ये सब नाद ही से उत्पन्न होते हैं। इसलिए यही सरस्वती (वाक्) देवी सब जीवों के मूलाधार रूप गुहा में आश्रय करके स्थित है।

हे वत्स! जैसे आत्मा को जाग्रत (स्थूल), स्वप्न (सूक्ष्म), सुषुप्ति (कारण) और तुरीया ये चार अवस्थाएं हैं वैसे ही नाद की भी चार अवस्थाएं हैं यह ध्यान में रखनाः— परा, पश्यन्ती, मध्यमा, और वैखरी। मूलाधारस्था बिन्दुरूपिणी पराशक्ति कुंडलिनी ही परा कही जाती है। यही परा नाद की तुरीयावस्था है। इससे आगे नाद के स्वाधिष्ठान में उपस्थित होने से जो अवस्था बनती है उसे पश्यन्ती कहते हैं। यही पश्यन्ती नाद की सुषुप्ति या कारणावस्था है। जब यह नाद हृदय में पहुँचता है

तव उस अवस्था का नाम मध्यमा और अन्त में कंठ में पहुँच कर स्पष्ट शब्दरूप से उच्चारित होने पर वैखरी कहा जाता है। मध्यमा अवस्थाप्राप्त नाद को अनाहत-ध्वनि कहते हैं क्योंकि हृदयदेश में आघात के बिना स्वतः ही यह ध्वनि प्रगट होती है। यह मध्यमा नाद की सूक्ष्म वा स्वप्नावस्था है और वैखरी नाद की जाग्रत या स्थूलावस्था है। नाद की परा और पश्यन्ती ये दो अवस्थाएं योगीगण की अनुभूतिगम्य हैं और मध्यमा अवस्था योगमार्ग में बढ़े हुए साधक के अनुभव में आती है। वैखरी अवस्था का अनुभव सर्व साधारण को होता है। हे वत्स! कोई २ योनिमुद्रा और भ्रामरी कुम्भक के अभ्यास द्वारा इस मध्यमा नाद का श्रवण करते हैं।

हे वत्स! अब तुम समझे कि कुण्डलिनी शक्ति ही सकल मंत्रों की प्राणस्वरूपा है। कुण्डलिनी का जागरण ही मंत्र चैतन्य है। मंत्र चैतन्य न होने से किसी मंत्र से सिद्धिलाभ न होगी।

मूलपद्मे कुण्डलिनी यावन्निद्रायिता प्रभो।
तावत् किञ्चिन्न सिध्येत् मंत्रयंत्रार्चनादिकम्॥
जागर्त्ति यदि सा देवी वहुभिः पुण्यसञ्चयैः।
तदा प्रसादमायाति मंत्रयंत्रार्चनादिकम्॥

(गौतमीयतन्त्रे)

अर्थ—हे प्रभो! जबतक कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार में निद्रिता है तबतक मंत्र, यंत्र और अर्चनादि कुछ भी सिद्ध न होंगे। जब बहुत पुण्यसञ्चय के प्रभाव से कुण्डलिनी शक्ति जाग उठेगी, तबही उसकी कृपा से मंत्र, यंत्र और अर्च्चनादि सिद्ध होवेंगे।

इस देह में प्राण न रहने से जैसे देह में कार्य करने की योग्यता नहीं रहती; वैसेही मंत्र की प्राणशक्ति का उद्बोध (जागरण) न होने से सौ सौ पुरश्चरण करने पर भी उस मंत्र द्वारा सिद्धिलाभ नहीं होती।*

मंत्रार्थ और मंत्रचैतन्य न समझ कर साधक जो जपादि करे तो शतलक्ष जपादि करने से भी उसकी मंत्र सिद्धि नहीं होती।†

इसलिए यही मंत्र की प्राणप्रतिष्ठा का प्रयोजन है। आर्य ऋषिगण चैतन्य ही के उपासक थे न कि जड़ के। हमारी मूर्त्तिपूजा को देखने से जाना जाता है कि मूर्त्ति में प्राणप्रतिष्ठा हुए विना पूजा सिद्ध नहीं होती। अनेक स्थलों में पूजक प्राणप्रतिष्ठा करना नहीं जानता इस कारण उसकी मूर्त्तिपूजा से कोई लाभ नहीं होता और तव देवता के ऊपर दोष रखा जाता है। इसी कारण से आजकल का शिक्षित समाज मूर्त्तिपूजा का घोर विरोधी है। हे वत्स! पूजक यदि शक्तिशाली योगी और भावुक (भक्त) होगा तवही वह प्रतिमा में प्राण और शक्ति का सञ्चार करने में समर्थ होगा। ऐसा होने से ही मृन्मय मूर्त्ति में भी चिन्मय मूर्त्ति का भास हो सकेगा और उससे आगे साधक के इष्ट नाम रूप रहित सच्चिदानन्दविग्रह (विग्रह=मूर्त्ति, रूप)

---

* विना प्राणं यथा देहः सर्वकर्मसु न क्षमः।
विना प्राणं तथा मंत्रः पुरश्चर्याशतैरपि॥

† मंत्रार्थं मंत्रचैतन्यं यो न जानाति साधकः।
शतलक्षं प्रजप्तोऽपि तस्य मंत्रो न सिध्यति॥

(महानिर्वाण तंत्र)

प्रकाशित होवेंगे । जो कुछ रूपधारी है वास्तव में सब प्राणमय है । यह सब प्राण का ही रूप है ।

प्राणोऽपि भगवानीशः प्राणो विष्णुः पितामहः ।
प्राणेन धार्यते लोकः सर्वं प्राणमयं जगत् ॥

अर्थ—प्राण ही भगवान् महेश्वर, प्राण ही विष्णु, प्राण ही ब्रह्मा, प्राण द्वारा ही भूर्भुवादि लोकसमूह धृत या स्थित है; सर्व जगत् ही प्राणमय है ।

पूर्व में कह आये हैं कि मंत्रसमूह प्राणशक्ति की ही अभिव्यक्ति (प्रगट होना) है और मंत्र की यह प्राणशक्ति जबतक न जगेगी तबतक मंत्रद्वारा कोई भी लाभ न होगा । एक कथा कहते हैं सुनो ।

एकबार एक ब्राह्मण, मैं जहां चाहे वहां विचर सकूं, ऐसी शक्ति प्राप्त करने की कामना से तप में लगा और व्यासदेव के निकट जा और उनके चरणों में गिरकर उनसे उसने अपना अभिप्राय प्रगट किया । ब्राह्मण के विनय और नम्र व्यवहार से व्यासदेव सन्तुष्ट हुए और एक बिल्वपत्र में "ॐराम" यह मंत्र लिखकर पत्र को मोड़कर उस ब्राह्मण के हाथ में देकर उससे कह दिया कि इस पत्ते को अपने कपड़े में बांधकर तुम जब जहां जाने की इच्छा करोगे उसी क्षण वहां पहुंच जाओगे । सो वह ब्राह्मण उस मंत्र के प्रभाव से अपनी इच्छानुसार अंतरिक्ष, स्वर्ग, वायु, वरुण, और सूर्यलोकादि सकल लोकों में जाने आने लगा । बहुत दिनों के पीछे क समय ब्राह्मण के मन में विचार आया कि देखें इस बिल्व-पत्र में क्या लिखा है जिसके प्रभाव से हम स्वर्गादि सकल लोकों में विचरण कर सकते हैं । यह विचार

ब्राह्मण ने अपने कपड़े से निकाल कर उस बिल्व पत्र को खोला और मंत्र को पढ़कर बहुत लंबी हँसी हँसी। वह कहने लगा "ॐराम" इस मंत्र को तो हम जानते हैं। इसमें इतनी शक्ति है यह हमें अभी तक मालूम न था। जो हो यह विल्व पत्र तो सूखकर जीर्ण हो गया है। अब इसकी क्या अपेक्षा है, इसे फेंक देते हैं और एक नये बिल्व पत्र पर मंत्र लिख लेवेंगे। ऐसा विचार कर ब्राह्मण ने उस जीर्ण विल्व पत्र को गंगाजी में फेंक दिया और एक नया विल्व पत्र लेकर उसमें "ॐराम" लिखकर अपने वस्त्र में बांध लिया। परन्तु वह उससे पूर्व के समान विचरण न कर सका। तब वह दुःखी होकर फिर व्यासदेव के निकट उपस्थित हुआ और अपना किया प्रकट करके अपनी निन्दा करने लगा। उसकी दुःख भरी बात को सुन मुनि ने नाराज़ होकर कहा कि "रे मूर्ख! जिस साधन शक्ति के बल से हमने मनुष्य होकर भी देवत्व प्राप्त किया है उसी शक्ति द्वारा इस मंत्र को शक्तिमान् बनाकर तुम्हें दिया था। उसी शक्ति के प्रभाव से तुम यथेच्छ विचरण कर सकते थे। जाओ, अब हमसे और कुछ न हो सकेगा"। तब वह ब्राह्मण दुखी हो अपने घर चला आया।

शिष्य—मंत्र चैतन्य क्या है यह मैंने समझा। अब कृपाकर समझाइये कि मंत्रार्थ क्या है।

गुरु—मंत्रप्रतिपादित देवता ही मंत्रार्थ है। और तत् प्रतिपाद्य (उसका बताया) देवता ही उसका वाच्य है। देख, वत्स! वाचक के साथ वाच्य का संबंध नित्य का है। जैसे 'सूर्य' इस वाचक शब्द के साथ सूर्यमण्डलस्थ तेज का नित्य संबंध

है। 'सूर्य' शब्द द्वारा केवल यह संबंध प्रकट होता है। वैसे ही मंत्र के साथ तत्प्रतिपादित देवता का सम्बंध सदैव बना है। मंत्रद्वारा केवल यह सम्बंध प्रकट मात्र होता है। इसलिए, कौन देवता का कौन मंत्र है यह गुरु से जान कर जप करना उचित है। मंत्र जप एवं तत्प्रतिपादित देवता के ध्यानद्वारा मन की एकाग्रता होती है और उससे परे अपनी आत्मा में उस देवता का दर्शन वा प्रकाश होता है। योगसूत्र के भाष्यकार व्यास देव अपने भाष्य में लिखते हैं :—

"प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य च ईश्वरस्य भावना। तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तं एकाग्रं संपद्यते।"

अर्थ—प्रणव का जप और प्रणव के अभिधेय अर्थात् प्रतिपाद्य चैतन्यरूपी ईश्वर की भावना। इसप्रकार प्रणव जप और प्रणव अर्थ की भावना करनेवाले योगी के चित्त की एकाग्रता होती है।

यहां पर अपने २ इष्ट मंत्र को ही प्रणव नाम दिया है ऐसा मन में समझ लेना।

"प्राणान् सर्वान् परमात्मनि प्रणानयतीत्येतस्मात् प्रणवः।१।

अथर्वशिखोपनिषद्।

अर्थ—जिसके द्वारा सर्व प्राणवृत्ति परमात्मा में लय को प्राप्त होवे वही प्रणव है।

शिष्य—हे पिता! आपने पूर्व में कहा है कि कुंडलिनी शक्ति ही जीवनी शक्ति और प्राण शक्ति है। यदि ऐसा है तो जाग्रत वस्तु को और क्या जगाना? क्योंकि प्राणशक्ति तो जगी हुई है ही। वैसा न होता तो वस्तु का ज्ञान कैसे हो सकता और हमारी इच्छा भी कैसे हो सकती?

गुरु—हे वत्स ! तुमने अच्छा प्रश्न किया। सावधान होकर सुनो। अन्तर्मुख वा वहिर्मुख भेद से कुंडलिनी शक्ति के दो मुख हैं जैसे दोमुखा सांप।

द्विवक्त्रा कुण्डलिन्यभिधा नित्यानंदस्वरूपा परमा कला प्रकृति वर्तते।

अर्थ—कुंडलिनी नाम्नी नित्यानन्द स्वरूपा परमा प्रकृति वर्तमान है। इसके दो मुख हैं।

दो मुखवाली साढ़ेतीन वलय आकृतिकी कुंडलिनी एक मुख से सुषुम्णारंध्र को (ब्रह्मद्वार या ब्रह्मविवर को) रोक कर सोती है। दूसरा मुख लकड़ी से मारी भुजंगिनी के समान है। इस मुख से श्वासप्रश्वास होता है। यही जीव का श्वासनिश्वास है। इस मुख से वह हमेशा जागती है। उसी कारण जीवको वाह्य ज्ञान वा वाह्य चेतन अच्छी तरह होता है। इसी कारण जीवको भिन्नता का वोध होता है, एकत्व का वोध नहीँ होता। अन्तर्मुख सुप्त वा वद्ध होने से अन्तर्ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान का अभाव होता है। जिस मार्ग द्वारा जाकर सहस्रार में निरामय ब्रह्मस्थान को पहुँच कर साधक ब्रह्म का आत्मसाक्षात्कार करता है उसी ब्रह्म द्वार को रोक कर परमेश्वरी सोती पडी है।*

जवतक प्राणशक्ति सुषुम्णा के इस मार्ग में प्रवेश नहीं करती तवतक मोक्ष संभव नही है।

योगशिखोपनिषद् में लिखा है—

"नाकृतं मोक्षमार्गः स्यात् प्रसिद्धं पश्चिमं विना" (१-१४९)।

---

*येन मार्गेन गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयं।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी॥ हठयोग प्रदी० ३।१०६

पश्चिम अर्थात् पीठ भाग के मार्ग के प्रसिद्ध अर्थात् खुले हुए बिना मोक्ष मार्ग में गति नहीं होती। सुषुम्णा को ही पश्चिम पथ कहते हैं। हमारे सामने के भाग के गुह्य स्थान, नाभि, हृदय, कंठ और नासिका द्वारा जो प्राण का प्रवाह होता है वही पथ पूर्वपथ कहा जाता है। इस पूर्वमुख को प्राणगति बहिर्मुख है। इसी मुख से श्वास प्रश्वास क्रिया होती है। अन्तर्मुखवाली गति मूलाधार में कपाट के समान बंद है। इस मुख को खोल देना ही कुंडलिनी का जागरण है।

हे वत्स! मूलाधार में सर्प के समान कुंडलाकृति एक नाडी है। उसीमें प्राणशक्ति का स्थान है। इसी से यह प्राण कुंडलिनी कहाता है।* यह शक्ति नवीन बिजली माला के समान अर्थात् मेघ के बीच की बिजली माला के समान विराजमान है।†

वत्स! तुमने विद्युत का दीपक देखा है। एक तार से वह प्रकाशित होता है। उसी तार की आकृति के समान उस प्रकाश की आकृति दिखती है; वास्तव में उस प्रकाश का कोई आकार नहीं है। प्रकाश उस तार रूप आधार में प्रकट होने से ही उस आकाश में दिखता है। वैसे ही प्राणशक्ति के उक्त सर्पवत् कुंडली भूत होकर नाडी में प्रवेश होने के कारण उसको कुंडलिनी या कुंडलाकृति कहते हैं। अब समझे कि

---

*मूलाधारे सर्पवत् कुण्डलीभूता नाडी वर्त्तते तन्मध्ये स्थायित्वात् इयं कुण्डली (सारदातिलक टीका)

†महानारायण उपनिषद् में इसका सुन्दर वर्णन है :—
तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थितः ।
नीलतोयदमध्यस्था विद्युल्लेखेव भास्वरा ।
नीवारशूकवत्तन्वी पीताभास्वत्यणूपमा ।।१३।।

प्राणशक्ति (वायवी शक्ति) ही कुंडलिनी शक्ति है। कुंडलिनी शक्ति के जागरण का अर्थ—गुरुशक्ति प्रभाव से प्राणशक्ति को सुषुम्णा पथ में ऊर्ध्वमुख से प्रवाहित करना है।

शिष्य—अच्छा गुरुदेव! कुण्डलिनी शक्ति जगने पर एकदम सहस्रार में पहुंच कर समाधि क्यों नहीं लगा देती?

गुरु—देखो वत्स! किसान जैसे एक खेत से दूसरे समतल या नीचे खेत में जल लाने की इच्छा करके हाथ से जल सिंचन नहीं करता पर दूसरे खेत में पानी जाने के रस्ते में जो आड़ या वाधा हो उसे दूर कर देता है और तब पानी आप से आप वहकर क्रम-क्रम से उस खेत को पानी से भर देता है वैसे ही मूलाधार स्थिता प्राणशक्ति-स्वरूपिणी कुण्डलिनीशक्ति गुरुशक्ति प्रभाव से जाग्रत होकर स्वाभाविक नियमानुसार अकूले अर्थात् सहस्रार में परम शिव को मिलने के लिए गमन करती है। इस शक्ति के उस ब्रह्मरन्ध्र में जाने के लिए एक मात्र सरल मार्ग सुषुम्णा नाड़ी है। सहस्रार में हमारी सारी शक्तियों का केन्द्रस्थल है; सब प्रकार की शक्तियां सहस्रार से निकल कर सुषुम्णा की ओर नीचे का मुख करके प्रवाहित होती हैं। इन शक्तियों में कुण्डलिनी शक्ति श्रेष्ठ है। उसीको मूलशक्ति, आद्याशक्ति भी कहते हैं। इसीके स्थान को मूलाधार कहते हैं। यही शक्ति गुरुकृपा से ऊर्द्धमुख प्रवाहित होने पर विलोम क्रम से सुषुम्णा में प्रवाहित होती है और सहस्रार में परम शिव से मिलती है। शाक्त मत से यही शिव शक्ति का मिलन है। वैष्णव लोग इसे ही राधा कृष्ण का मिलन कहते हैं। मूलशक्ति के एक चक्र से दूसरे चक्र में चढ़ते समय मार्ग में जिस जिस स्थान में जो जो शक्तियां हैं, वे सब शक्तियां उसी के अङ्ग में लय होती जाती हैं।

देखो, वत्स ! जैसे तुम्हारे हुक्का की नली में लोह छड़ डाल कर साफ न करते रहने से उस में मैल जमा होते होते कई दिन पीछे वह वन्द हो जायगा और फिर तुम उससे धुंआ न खींच सकोगे, पर जैसे गरम लोह शलाका डाल कर धीरे २ नली साफ करते रहने से जब वह पूरी साफ हो जायगी तो उसमें से धुंआ बराबर निकल कर तम्बाकू पीनेवाले के मन को प्रफुल्ल करेगा वैसे ही सुषुम्णा पथ बहुत जन्मजन्मातरीय वासना और संस्कार राशिरूप क्लेद (मैल) द्वारा मैला हो गया है। कुण्डलिनी शक्ति के जागरण होने से ही केवल समाधि न लग सकेगी। क्योंकि जब शक्ति ऊर्द्धगामी होना चाहती है तब उसे क्लेद द्वारा वाधा होती है और मूलाधार में वायु का रोध (रुकावट) होता है और उससे उत्पन्न शक्ति का स्पंदन होते रहने से गात्र कम्प और शरीर के नृत्यादि अर्थात् नाना प्रकार के अङ्ग सञ्चालनादि होते रहते हैं।

योगशिखोपनिषद् में लिखा है:—

> आधारवातरोधेन शरीरं कंपते यदा।
> आधारवातरोधेन योगी नृत्यति सर्वदा ॥ २८ ॥ अ० ६ ॥

अर्थ—(ऊर्ध्व गमन समय में) मूलाधारस्थ प्राण वायु के वाधा प्राप्त होने से शरीर में कम्प होता है और उसी कारण योगी में नृत्यादि क्रियाएं प्रकट होती हैं।

इस प्रकार कम्प और नृत्यादि अर्थात् घूर्णा (चक्कर आना) आसन, मुद्रा और शरीर के नाना प्रकार के डोलने के द्वारा सुषुम्णा नाडी का क्लेद (मैल) वगैरः दूर होता है और सुषुम्णा के मार्ग साफ़ होने के लिए नाना प्रकार के कुम्भकादि होने लगते हैं। इन सकल क्रियाओं से सुषुम्णा

के साफ़ होने से शक्ति को रुकावट रहित गति मिलती है और वह सहस्रार में पहुँच कर ब्रह्मरन्ध्र में लीन होती है। तब साधक को सर्ववृत्तिनिरोधरूप निर्विकल्प समाधि होती है। जिसकी सुषुम्णा नाडी पूर्व अच्छे कर्मों के कारण प्रथम से ही साफ़ है उसकी शक्ति जागने पर ही समाधि हो जायगी।

हे वत्स! सब मंत्रों की प्राणरूपा कुण्डलिनी शक्ति के जागने से ही समाधि क्यों नहीं होती और समाधि लगने के पूर्व कौन नाना रूप अङ्ग सञ्चालन और कम्पादि होते हैं ये सब तुम अब समझ गये न?

शिष्य—हाँ अच्छी तरह समझ गया। अब राधाकृष्ण मिलन और शिवशक्ति मिलन किस प्रकार के होते हैं वह अच्छी तरह समझा दीजिये।

गुरु—हे पुत्र तुमने अच्छा प्रश्न किया। हम तुमको इसकी यौगिक भाव से (मूल से विचार कर) व्याख्या करके सुनाते हैं, अच्छी तरह ध्यान से सुनो। परमात्मारूपी श्रीकृष्ण सहस्रदल पद्म में स्थित हैं। वे ही सच्चिदानन्द हैं।

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

(ब्रह्मसंहिता)

अर्थ—अनादिवस्तु सच्चिदानन्द विग्रह (रूप) श्रीकृष्ण परम ईश्वर रूप हैं। वे लीला के लिए सर्व प्रथम जो पुरुषाकार से प्रकट हुए उससे उन्हें आदि कहते हैं। वे ही पृथ्वी के रक्षक हैं और सर्व कारणों के कारण हैं।

भगवान श्रीकृष्ण की ही अभिन्ना शक्ति राधा (चित्‌शक्ति) है। यही चित्‌शक्तिस्वरूपिणी राधा जब चैतन्यरूपी श्रीकृष्ण में अभिन्न रूप से रहती है तब कोई लीला नहीं

होती : लीला रस भोग करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण अपने में से अपनी चित् शक्ति राधा को प्रकट करते हैं, यही राधा ही संधिनी, संवित् और ह्लादिनी शक्ति है। इसलिए राधा ही चित्शक्ति वा कुंडलिनी शक्ति है। आनन्द दान करने से उसे ह्लादिनी शक्ति कहते हैं। इस ह्लादिनी शक्ति के न जगने से साधक को आनन्द दान कौन करेगा।

श्रीचैतन्य चरितामृत में लिखा है:—

एकई चिच्छक्ति तांर धरे तीन रूप।
आनन्दांशे ह्लादिनी सदंशे संधिनी।
चिदंशे संवित् यारे ज्ञान करि मानि॥
× × ×
संधिनीर सार अंश शुद्ध सत्व नाम।
भगवानेर सत्ता हय याहाते विश्राम॥
× × ×
ह्लादिनीर सार प्रेम प्रेमसार भाव।
भावेर परमकाष्टा नाम महाभाव॥
महाभाव स्वरूपा श्रीराधा ठाकुराणी।
सर्वगुणखनि कृष्ण कांतशिरोमणि॥
किंवा प्रेमरसमय कृष्णेर स्वरूप।
तांर शक्ति तांर सह हय एकरूप॥
कृष्णवांछापूर्तिरूप करे आराधने।
अतएव राधिका नाम पुराणे बाखाने॥
राधा पूर्णशक्ति कृष्ण पूर्णशक्तिमान्।
दुई वस्तु भेद नाइ शास्त्र परिमाण॥

अर्थ—एक ही चित्शक्ति तीन रूप धारण करती है आनन्द अंश से ह्लादिनी, सत् अंश से संधिनी, चित्

अंश से संवित्। × × × संधिनी के सार अंश का नाम शुद्ध सत्व है जिससे भगवान् की सत्ता विश्राम पाती है। × × × ह्लादिनी का सार, प्रेम, प्रेम का सार भाव, (भक्ति), भाव की परमकाष्ठा उच्चदशा का नाम महाभाव। महाभाव स्वरूपा श्रीराधा ठाकुरानी हैं। सर्वगुणखान श्रीकृष्ण कांतशिरोमणि हैं अथवा उनके स्वरूप को प्रेमरसमय कह सकते हैं। उनकी शक्ति उनके साथ एक रूप से स्थित है। आराधना करने से कृष्ण इच्छापूर्ति करते हैं। राधा पूर्णशक्ति हैं और श्रीकृष्ण पूर्ण शक्तिमान् हैं। दोनों वस्तुओं में भेद नहीं है। इसका प्रमाण शास्त्र है।

हे वत्स! सहस्रार से जो धारा (शक्ति) निम्नाभिमुख प्रवाहित होती है उसे विलोम क्रम से (उल्टाकर) ऊर्ध्वाभिमुखी करने से "धारा" ही "राधा" रूप से सहस्रार में परमात्मा रूपी श्रीकृष्ण के साथ मिलकर साधक को परमानन्द का अधिकारी बनाती है। "धारा" को उल्टाने से "राधा" हो जाता है जैसे—धा+रा=रा+धा।

हे पुत्र! जैसे आकाश से पतित जल नदी और नालों द्वारा बहता सागर में जा मिलता है और अपने नाम रूप का परित्याग कर सागर में अभिन्न रूप से मिलजाता है वैसे ही यह शक्ति भी परमात्मा में मिलकर और एकीभूत होकर अपने नाम रूप का परित्याग करती है। नाम और रूप ही लीला है। जहां नाम और रूप हुआ कि जप तप पूजा और अर्चना आदि का आरम्भ हुआ। शक्ति के ही नाम रूप हैं। इसलिए शक्ति साधना से भिन्न कोई कभी भी उस नाम रूप से परे निर्गुण चैतन्य को पा नहीं सकता है। निर्गुण चैतन्य के ऊपर ही सगुण नाम और रूप भासित होते हैं जैसे जल के ऊपर तरङ्ग खेलते हैं। गुरूपदिष्ट क्रिया द्वारा

इस शक्ति के ब्रह्मरंध्र में लीन होने पर निर्गुण सच्चिदानन्द स्वरूप को प्राप्ति होती है। तब साध्य और साधक एक होते हैं। साधक की निज सत्ता का भगवत् सत्ता में मिलजाना महाभाव कहाता है। रासलीला काल में श्रीकृष्ण के लोप हो जाने पर, गोपियों को उन्हें ढूँढ़ते २ श्रीकृष्ण भाव में लीन होने से, सर्व वस्तुओं में प्राणाराम (प्राणरूप से रमते) श्रीकृष्ण मूर्ति के दर्शन होने लगे। इस प्रकार दर्शन करते २ उनकी महाभाव दशा हो गई और निज निज अहंता का नाश होकर उन्हें "हम ही कृष्ण हैं" ऐसा अनुभव होने लगा।

हे वत्स! इस शिव-शक्ति-मिलन को तुम्हें माँ दशभुजा दुर्गा मूर्ति द्वारा समझा देते हैं। माँ कुलकुंडलिनी शक्ति ही दशभुजा हैं। दशों दिशाओं में हमारी माँ की लीला का विकास है अथवा दशों दिशाओं में वे व्याप्त हैं। येही उनके दश हाथ हैं। वेदान्त ज्ञानरूपी सिंह ही माँ का वाहन है। इसी से वे सिंहवाहिनी कही जाती हैं। योग द्वारा चित्त शुद्धि होने पर ज्ञान द्वारा ही हमारी माँ का निर्गुण चैतन्य स्वरूप जान पड़ता है। हमारी माँ ही विद्या, वल, सिद्धि, और ऐश्वर्य की आधाररूपा हैं। उस माता के दो पुत्र हैं—सिद्धिदाता गणेश और वलरूपी कार्तिक, और दो कन्याएं हैं—विद्यारूपिणी सरस्वती और ऐश्वर्यरूपिणी लक्ष्मी। जो साधक भक्ति, योग और ज्ञान द्वारा इस चैतन्य-स्वरूपिणी माँ के प्रत्यक्ष दर्शन अपने हृदय में कर सके हैं, उन्हें विद्या, वल, सिद्धि और ऐश्वर्य का अभाव नहीं है। क्योंकि माँ के पुत्र और कन्यागण नित्य ही उनके सङ्ग रहते हैं। जहां माँ वहीं कार्तिक, गणेश, लक्ष्मी और सरस्वती। श्री श्री माँ की पूजा भी वसन्त और शरत् काल में होती है। योग साधन के श्रेष्ठ समय भी येही दो हैं।

हे वत्स ! अपने हृदय में माँ की प्राप्ति करना चाहते हो तो कुण्डलिनी शक्ति का उद्बोधन करो। प्रथम बोधन (जागना) होता है फिर सप्तमी पूजा होती है; अर्थात् प्रथमतः मूलाधार में कुण्डलिनी शक्ति का जागरण, उसके पश्चात् दशदल नाभि पद्म में ब्रह्म-ग्रन्थि भेद होता है। सप्तमी पूजा के पीछे अष्टमी पूजा होती है सो द्वादशदल-हृदयपद्म-स्थित विष्णुग्रन्थि का भेद है। इसके बाद नवमी पूजा द्वारा भ्रूमध्य में द्विदल-चक्र में अवस्थित रुद्रग्रन्थि भेद होता है। हे वत्स! यहां तक ही सगुण रूप दर्शन है। नाम और रुप ही सगुण के लक्षण हैं। दशमी तिथि को नाम और रूप का विसर्जन होता है अर्थात् गुरुकृपा से कुण्डलिनी शक्ति षट् चक्र और ग्रन्थित्रय का भेद करके सहस्रार के ब्रह्मरन्ध्र में लीन हो जाती है। सो इससे आगे सर्ववृत्तिनिरोधरूपा समाधिद्वारा माँ का निर्गुण चैतन्य स्वरूप प्राप्त होता है। जब आत्मा आत्मा में (जीवात्मा परमात्मा में) मिल जाता है तब ही एकत्व का अनुभव होता है। साधक समाधि भङ्ग के पीछे भी "सर्वं ब्रह्ममयं जगत्" (अर्थात् समस्त जगत् ही ब्रह्ममय है) का अनुभव करता रहता है और तब आत्म भाव से सबको प्रेम से आलिंगन कर सकता है। यहां पर योगी की योगसाधना का शेष होता है। अब वह सदा आत्म-भाव में स्थित रहेगा। इसी स्थिति को ब्राह्मीस्थिति कहते हैं। यही साधना की परा-वस्था है। इसमें सब कामनाओं की निवृत्ति होती है। योगकुण्डलिनी उपनिषद् में लिखा है :—

ज्वलनाघातपवनाघातोरुन्निद्रितोऽहिराट् ।
ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्त्यतः ॥८६॥

रुद्रग्रन्थिं च भित्वैव कमलानिभिनत्ति षट् ।
सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते ॥८६॥
सैवावस्था परा ज्ञेया सैव निर्वृत्तिकारिणी ॥अध्याय–१॥

अर्थ—अभ्यन्तरस्थ अग्नि द्वारा तापित (तपे) प्राण वायु की क्रिया से सर्पाकृति कुलकुण्डलिनी जागरित होती है। तब वह शक्ति ब्रह्मग्रंथिका भेदन करके फिर विष्णुग्रंथिका और रुद्रग्रंथिका और छः कमलों (चक्रों) का भेदन करती हुई सहस्रारस्थ परम शिव के साथ मिलकर आनन्द रस का लाभ करती है। इसीको साधना की परावस्था जाननी चाहिये। इस अवस्था में सब कामनाओं की निवृत्ति होती है।

इस अवस्था में जो आनन्द लाभ होता है उसका वर्णन शब्दों में नहीं हो सकता। हे वत्स! इसी कारण नवरात्र में दशमी के पश्चात् अर्थात् मूर्त्तिविसर्जन के पश्चात् आलिङ्गन की प्रथा हमारे देश में जारी है। जिस क्षण शक्ति अकूल अर्थात् सहस्रारस्थ शिव से अलग होकर आज्ञाचक्र होती मूलाधार पर्यंत अवस्थान और विचरण करती है तब ही से उपासना की आवश्यकता है। सगुणकी ही उपासना होती है, निर्गुण की नहीं। सगुण ही द्वैत और निर्गुण ही अद्वैत है। दो का बोध होने से ही तो उपासना हो सकेगी। जब उपासक उपासना द्वारा अपनी आत्मा को ही उपास्य रूप में दर्शन करता है तब कौन किसकी उपासना करेगा? इसी कारण तब और उपासना बाकी नहीं रहती। हे वत्स! ध्यान में रखना कि देहमें ब्रह्मरंध्र ही निर्गुण ब्रह्म की और भ्रूमध्य ही सगुण ब्रह्म की उपलब्धि का स्थान है। भ्रूमध्य अर्थात् द्विदल पर्यंत ही रूप का दर्शन होता है। पर

सहस्रार में केवल "अरूप का रूप" अर्थात् सच्चिदानन्द का साक्षात्कार मात्र है।

शिष्य—हे पिता! आपका उपदेश श्रवण करने से मन के अनेक संशय दूर हो गये और बड़ा ही आनन्द लाभ हुआ। ऐसी तत्वज्ञानपूर्ण कथा पूर्व में मैंने और कहीं नहीं सुनी है। काली मूर्ति में क्या क्या यौगिक (मूल के) और आध्यात्मिक भाव हैं मैं यह सुनना चाहता हूँ। आपका उपदेश सुनकर मन में तत्व जानने की उत्सुकता क्रमशः चढ़ती जाती है।

गुरु—हे वत्स! मूलाधारस्थ कुण्डलिनी शक्ति ही हमारी मां काली है। ये ही आद्याशक्ति और शिवस्वरूपिणी हैं क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् वस्तुतः अभिन्न हैं। देवी-गीतामें लिखा है कि:—

तदूर्ध्वं तु शिखाकारा कुण्डली रक्तविग्रहा।
देव्यात्मिका तु सा प्रोक्ता मदभिन्ना नगाधिप॥

अर्थ—मूलाधार में स्वयंभूलिंग के ऊर्द्धभाग में अग्नि-शिखाकार रक्तवर्णा देवीरूपा कुण्डली है। हे पर्वतराज! यह कुण्डली हम से अभिन्न है। यही शक्ति इच्छा, क्रिया और ज्ञान इन त्रिविध शक्तिरूपों में विराजी है। गोरक्ष-संहिता में लिखा है:—

इच्छा क्रिया तथा ज्ञानं गौरी ब्राह्मी तु वैष्णवी।
त्रिधा शक्तिः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति॥
ज्ञानं गौरीशक्तिरिच्छा ब्राह्मीशक्तिः।
क्रिया वैष्णवीशक्तिरिति त्रिधा त्रिप्रकारा॥

अर्थ—शक्ति तीन प्रकारकी है—ज्ञानरूपा गौरी (माहेश्वरी) शक्ति, इच्छारूपा ब्राह्मीशक्ति, क्रियाशक्तिरूपा वैष्णवीशक्ति

या लक्ष्मी, ये ही त्रिविधा शक्तियां हैं। जहां इन तीन शक्तियोंका स्थान है उसके परे चित्-ज्योतिःस्वरूप ब्रह्मस्थान है।

मूलाधार से नाभिचक्र पर्यन्त इच्छाशक्तिरूपा ब्राह्मीशक्ति का स्थान है। इसे अधःशक्ति भी कहते हैं। नाभि से कंठचक्र पर्यन्त क्रियाशक्तिरूपा विष्णुशक्ति का स्थान है। इस वैष्णवीशक्ति को मध्यशक्ति कहते हैं। कंठचक्र से आज्ञाचक्र पर्यन्त ज्ञानशक्तिरूपा शिवशक्ति का स्थान है। इसे ऊर्ध्वशक्ति भी कहते हैं। उससे आगे शक्ति से परे निरंजन निर्गुण ब्रह्म का स्थान है।*

हे वत्स! शक्ति और शक्तिमान् वस्तुतः अभिन्न हैं यह पूर्व में बता चुके हैं। शक्ति जब निर्गुण ब्रह्म में अभिन्न भाव से लीन होती है तब कोई सृष्टि नहीं रहती। यही निर्विकार सत्स्वरूप अद्वैत ब्रह्मभाव है। षट्चक्र भेद करके शक्ति के ब्रह्मरन्ध्र में लीन होने पर साधक इस अवस्था का अनुभव कर सकता है। यही क्रिया और ज्ञान की परावस्था या निर्विकल्पावस्था है।

इसी अवस्था में इच्छा-क्रिया-ज्ञानमयी सृष्टि अप्रकट रहती है, इसीलिए यही प्रलयावस्था है। ध्यान में रखो कि सृष्टिकर्ता जब निर्विकल्प समाधि में समाहित हो स्वरूपस्थ हो जाता है तब प्रलयावस्था हो जाती है।

इसी ब्रह्म ने ईक्षण (मनन) किया कि मैं "एक हूँ अनेक होऊँ"। इस ईक्षण शक्ति के होते ही क्रमशः बहुरूपी विचित्र

---

* ऊर्ध्वशक्तिर्भवेत् कंठं अधःशक्तिर्भवेत् गुदः।
मध्यशक्तिर्भवेन्नाभिः शक्त्यातीतं निरंजनम्॥

जगत् की सृष्टि हुई। इसी शक्ति के इच्छा, क्रिया और ज्ञानरूपी तीन भेद हुए। यही ब्रह्मलीना शक्ति जब आरम्भ में कार्योन्मुखी होती है तब उसे आदिकारण या सर्वकारण कारण कहते हैं। यही सृष्टि की अव्यक्तावस्था या प्राथमिक अवस्था है। इसी अवस्था में ब्रह्म को सगुण ब्रह्म कहते हैं। आज्ञाचक्र ही सगुण ब्रह्म का स्थान है। इसी स्थान में मन का निवेश करने से साधक को आदिकारण की उपलब्धि होती है। इसी स्थान में सविकल्प समाधि होती है।

सृष्टि की इस अव्यक्त अवस्था को कोई कोई तम नाम से भी कहते हैं। यही आदि तमस्त्व (तमरूप=अन्धकार रूप) या आदिकालत्व निबन्धन है। यही परमाशक्ति ही काली नाम से प्रसिद्ध हुई और इसी कारण से उसका रङ्ग भी तम या अन्धकारमय काला हुआ। इस अवस्था में सब वर्ण और सब रूप का अभाव होने से इनको तमोरूपा कृष्णवर्णा कहा है। हे वत्स! तुम अब समझे?

शिष्य—हाँ आपकी कृपा से इस कथा को अच्छी तरह समझ सका हूँ।

गुरु—अच्छा, अब आगे सुनो चतुर्वर्ग ही मां के चार हाथ हैं। मां का ऊर्ध्व दक्षिण हस्त ही धर्म का प्रतीक (चिन्ह) है। किस धर्म का? योग धर्म का—परमार्थ साधन रूप धर्म का।—इसी धर्म का फल अभय होता है।

गीता में भगवान ने कहा है, "स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।" (इस धर्मका थोड़ा अनुष्ठान भी साधकको महाभय से रक्षा करता है)। इसी कारण मां ने अपने इस धर्म हस्त में अभय चिन्ह धारण किया है। इसके बाद इनके अधो दक्षिण हस्त में अर्थ का प्रतीक रूप (चिन्ह) वर्तमान है। अर्थ शब्द को समझ लेना आवश्यक है।

अर्थ शब्द का मतलब प्रयोजन, किसी अभाव का बोध होना है। मां इस हस्त द्वारा अपने पर बिलकुल निर्भरशील अपनी सन्तान की सर्व आवश्यकताएँ पूरण करती है। सब त्रुटियां पूरण कर देती है।

अनन्याश्चिन्तयंतो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहं ॥ २२ ॥

(भग० गीता अ० ९।)

अर्थ—श्रीभगवान् कहते हैं कि जो साधक अन्य कामनाओं को त्यागकर केवल मेरी ही चिन्ता वा उपासना करते हैं—ऐसे हमारी चिन्ता में नित्य लगे हुए भक्तों का योग और क्षेम का निर्वाह हम करते हैं। यहां अलब्ध आवश्यक वस्तु का जो अभाव है उसे पूरा करना 'योग' कहता है और लब्ध वस्तु की रक्षा का नाम ही क्षेम है। तो देखो, पूर्ण निष्ठावान् भगवत्परायण साधक को अर्थ (या आवश्यक वस्तु) उपार्जन और उसकी रक्षा के कारण चिन्तित वा उद्विग्न होने की आवश्यकता नहीं है। ऐसा साधक केवल अपने परमार्थ (मोक्ष) की चिन्ता में लगा रहता है। उसके ग्रासाच्छादनादि (भोजन कपड़े) सामान्य अर्थसमूह मां की कृपा से चेष्टा विना ही उसे प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे साधक के ऐहिक प्रयोजन निर्वाह के लिए मां सर्वदा वरदान देने को उद्यता हैं। इसी कारण हमारी मां अपने भक्त सन्तानों के लिए अपने हाथ में वर धारण किये हैं। सन्तान को जिस समय जो प्रयोजन हो उसका मां के वर से निर्वाह होगा।

इससे आगे मां के अधोवाम हस्त में धर्म अविरुद्ध काम वा भोग वासना का प्रतीक है*। उसकी भक्त सन्तान

*धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ। भग० गीता ७-११।

को जब जिस भोग की कामना हो मां इसे भी अति आश्चर्य रूप से पूरण कर देती है। पर मां की कृपा होनेके वाद साधक की भोगवासना क्रमशः कम होती जायगी। इस प्रकार जब पूरी चित्तशुद्धि द्वारा सच्चे तत्वज्ञान का उदय होता है तब ही वासना और काम का सम्पूर्ण विनाश होता है और सर्व कामना निवृत्ति के कारण उसे मोक्ष लाभ होता है। मां का ऊर्ध्ववाम हस्त मोक्ष हस्त है। इस हस्त में वे भोग वासना और कामासुर को दमन करनेवाली ज्ञानरूपा तलवार लिये हैं और विशुद्ध वासना के प्रतीक (चिन्ह) रूप अधोवाम हस्त में कामासुरका कटा मस्तक धारण किये हुए हैं। इस प्रकार मां के चतुर्वर्गरूप चार हाथों में वर, अभय, तलवार और मुंड चार वस्तुएं धारण हुई हैं। भक्त राम प्रसाद ने गाया है :—

"आय मन वेड़ाते जावि,

काली कल्पतरु-मूले रे मन चारि फल कुडाये खावि।"

अर्थ—आ मन ! तू घूमने जाना चाहता है तो कालीरूपी कल्पवृक्ष के मूल (चरणकमल) में जाना जहाँ हे मन, तू चारों फल (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) तोड़कर खा सकेगा।

विश्वव्यापिनी मां की लज्जा-निवारण कर सके ऐसा वस्त्र इस जगत् में कहां मिलेगा ? वह मां आकाशाम्वरा (दिगंवरा= नग्ना) है। हमारी मां को किसी प्रकार का वन्धन नहीं है; वे तो नित्यमुक्ता हैं; इसीसे उनके केश मुक्त हैं। मां के गले में मुंड की माला है। हे वत्स ! तुमको पूर्व में एक दिन कह चुके हैं कि मां कुल कुण्डलिनी ही से सब वर्णों (अक्षरों) की उत्पत्ति हुई है। वेही वर्णमयी और सकल वीज मंत्र स्वरूपा हैं। वर्ण जुड़कर ही शब्द वनते हैं और शब्द होते

ही ज्ञान होता है। ज्ञान का स्थान मस्तक है। उसी वर्णमाला के बदले में मुण्डमाला पहनी गई है। भक्त कमलाकान्त ने कहा है:—

"आदिभूता सनातनी शून्यरूपा शशिभाली,
ब्रह्मांड छिल ना जखन मुण्डमाला तुइ कोथा पेलि।"

अर्थ—तू आदिभूता, सनातनी, शून्यरूपा है, तेरे ललाट में चन्द्रमा है। जब ब्रह्मांड न था तब मुंडमाला तुझे कहां से मिली?

हमारी मां घोर-दंष्ट्रा करालवदना (बड़े दांत और घोर मुखवाली) है, ये प्रलयकाल के चिन्ह हैं। सब प्राणी उसी की रची सृष्टि हैं; इसलिए प्रलय में वे सब उसीमें लयको प्राप्त होते हैं। वे ब्रह्माणीरूप से सृष्टि करती हैं; वैष्णवीरूप से पालन करती हैं और फिर वे ही रुद्राणी वा कालीरूप से अपने देह में समस्त जीव जगत् का संहरण करती हैं।

कुरुक्षेत्र के युद्ध के आरंभकाल में श्रीभगवान् ने अर्जुन को विश्वरूप का दर्शन कराया। अर्जुन भगवत्‌देह में प्रलयभाव के दर्शन से भयभीत होकर स्तुति करने लगा कि:—

"आपके विकराल दाढ़ोंवाले और प्रलय काल की अग्नि के समान प्रज्वलित मुखों को देखकर दिशाओंको मैं नहीं जान सकता हूँ और न सुख को भी प्राप्त होता हूँ। इसलिए हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न होवें ॥ २५ ॥ मैं देखता हूं कि वे सब ही धृतराष्ट्र के पुत्र, राजाओं के समुदाय सहित, आपमें प्रवेश करते हैं और भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, तथा वह कर्ण और हमारे पक्ष के भी प्रधान योद्धाओं के सहित सब के सब ॥ २६ ॥ वेगयुक्त हुए आपके विकराल दाढ़ोंवाले भयानक मुखों में प्रवेश करते हैं और कई

एक चूर्ण हुए शिरों सहित आपके दांतों के बीच में लगे हुए दीखते हैं ॥ २७ ॥ हे विश्वमूर्ते! जैसे नदियोंके बहुतसे जल के प्रवाह समुद्रकी ओर ही दौड़ते हैं वैसे ही वे शूरवीर मनुष्यों के समुदाय भी आपके प्रज्वलित हुए मुखों में प्रवेश करते हैं ॥ २८ ॥ अथवा जैसे पतंग मोहके वश होकर नष्ट होने के लिए प्रज्वलित अग्नि में अतिवेग से प्रवेश करते हैं वैसे ही ये सब लोग भी अपने नाश के लिए आपके मुखों में अति वेग से प्रवेश करते हैं ॥ २९ ॥ और आप उन संपूर्ण लोकों को प्रज्वलित मुखों द्वारा ग्रसन करते हुए, सब ओर से चाट रहे हैं, हे विष्णो! आपका उग्र प्रकाश संपूर्ण जगत् को तेज के द्वारा परिपूण करके तपायमान करता है ॥ ३० ॥ भग० गी० अ० ११ ।

देखो वत्स! हमारे ही मुख में कितने प्राणी भक्षित होते हैं। हमारा जो कुछ भक्ष्य है सब प्राणयुक्त है। इस जगत् में जितने जीव जन्तु हैं प्रत्येक की आहार वस्तु प्राणी ही हैं—सब जीव जन्तुओं के भीतर रहकर एक मात्र प्राणशक्ति जगत् के सारे प्राणिवर्ग का भक्षण करती है। छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है—

सहोवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति यत् किंचिदिदमाश्वभ्य आशकुनिभ्य इति।

अर्थ—उस (प्राण) ने कहा कि हमारा अन्न क्या होगा? भूमिस्थित कुत्ता से लगाकर आकाशस्थ शकुनि पर्यन्त (भूचर और खेचर) जो कुछ प्राणी हैं सब ही अन्न होंगे।

इसलिये जगत् के प्राणी मात्र ही प्राण के अन्न हैं। प्राण सब प्राणियों को भक्षण वा आत्मसात् करके (अपनाकर)

अपनी अस्तित्वरक्षा और पुष्टि की वृद्धि करता है। सदा देखा जाता है कि एक प्राणी भोक्ता रूप से और अन्य प्राणी उसके भोज्य रूप से वर्तमान् हैं। जो भोज्य रूप से हमारे सामने है वही अन्य प्राणी के भोक्तारूप से वर्तमान् है। इस दृष्टि से यह जगत् परस्पर ही परस्पर का आहार है। यह आहारक्रिया मुख द्वारा ही होती है। इसलिए मुख ही प्रलय का स्थान है। स्पृहा वा लोभ जिह्वा में वर्तमान हैं। जिह्वा के संयम से स्पृहा का भी संयम होता है। इसलिए इसे मां लोल (निकली) जिह्वा द्वारा दिखाती हैं कि वे सृष्टि, स्थिति, और संहारकर्त्री होकर भी सब में संपूर्ण स्पृहारहिता निर्लिप्ता, निरहंकारा, कर्तृत्वाभिमानरहिता, कार्य करने पर भी अकर्त्री हैं। "आप्तकामस्य का स्पृहा" (जो आप्त काम हैं उनको और कौन वस्तुजन्य स्पृहा हो सकती है)। वे इस जगत् की रचना कोई उद्देश्य साधन की दृष्टि से नहीं करती हैं। यह उनकी प्रकृतिसुलभ जल तरङ्ग लीला मात्र है। मां का यह भाव जो समझ सकतेहैं वे संसार में नहीं फँसते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् ने कहा है:—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥ अ० ४।

अर्थ—कर्म हमको स्पर्श नहीं करते न कर्मफल में हमारी इच्छा रहती है। जो हमको इस प्रकार जानता है वह कर्मपाश में नहीं फंसता।

देखो वत्स! निर्गुण चैतन्य के ऊपर ही नाम और रूप भासते हैं जैसे जलके ऊपर जलके तरङ्ग खेलते हैं। तरंगों का आश्रय जैसे जल है वैसे ही शक्ति का आश्रय निर्गुण चैतन्य है। निर्गुण चैतन्यरूपी शिव जब शक्ति युक्त होते हैं

तब ही वे प्रभावशाली हो सृष्टि, स्थिति और प्रलय कार्य संपादन करने में समर्थ होते हैं नहीं तो बिना शक्तियुक्त हुए वे स्वयं स्पंदन (कंप) युक्त होने में भी समर्थ नहीं हैं। अग्नि की उष्णता, सूर्य का प्रकाश और चन्द्र की ज्योत्स्ना के समान इन चैतन्य स्वरूप शिव की भी स्वाभाविकी नित्य शक्ति है। जैसे आकाश में मेघद्वारा नाना दृश्यों की रचना होती है वैसे ही यह शक्ति भी चैतन्य के ऊपर नाना प्रकार की सृष्टि की रचना करती है। इसीलिए ये काली रूप हो निर्गुण चैतन्य स्वरूप शव रूपी शिव के ऊपर खड़ी हैं।

हे वत्स! यदि साकार और निराकार, सगुणा अथवा निर्गुणा चैतन्य स्वरूपिणी मां के दर्शन करना चाहते हो तो मूलाधारस्था कुण्डलिनी शक्ति की उपासना करो। साधक को गुरु के बताये उपाय से मां कुण्डलिनी शक्ति जब अधःशक्ति. मध्यशक्ति और उर्ध्वशक्ति को अपने अंग में लय करती हुई सहस्रार के ब्रह्मरन्ध्र में पहुंचती है तब सब प्रकार की कामनाओं और संकल्पों का निरोध होकर निराकार निर्विकार अखंड चैतन्य स्वरूप शिव के साथ मिलकर वे मां भी स्वयं निराकार निर्विकार हो जाती हैं। जब साधक को योग और समाधि द्वारा इस तत्व की प्राप्ति होती है तब उसके भी संकल्पराशि निरोध को प्राप्त होते हैं; तब उसकी स्वरूप में स्थिति होती है। मन के संकल्प समूह नष्ट हो जानेपर जो बचता है वह स्वरूप है *। स्वरूप अर्थात् निज रूप या आत्मा का रूप। स्वरूप ही चैतन्य है, यही योगी की आत्मा और निज बोध है। यह तत्व ही शैवों का शिव, वैष्णवों का विष्णु और शक्ति उपासकों की सच्चिदानन्दमयी मां है।

---

* संकल्पजाते गलिते स्वरूपमवशिष्यते ॥९३॥ महोपनिषद् अ० ४।

सहस्रदल कमलस्थित ब्रह्मरंध्र में ही इस तत्व की उपलब्धि हो सकती है। इसीलिए योगी, शाक्त, शैव, वैष्णव, सबका यह उपास्य स्थान है। षट्चक्रनिरूपण में लिखा है:—

शिवस्थानं शैवा परमपुरुषं वैष्णवगणाः
लपंतीति प्रायो हरिहरपदं केचिदपरे।
पदं देव्या देवीचरणयुगलानंदरसिका
मुनीन्द्रा अप्यन्ये प्रकृतिपुरुषस्थानममलम् ॥४४॥

अर्थ—इसी स्थान को शैवगण शिवस्थान, वैष्णवगण परम पुरुष (हरि) स्थान, दूसरे कोई कोई हरिहर पद, देवी के चरण कमल भक्तगण देवीपद (शक्तिस्थान) कहते हैं। कोई २ मुनिश्रेष्ठ इसे प्रकृति पुरुष के निर्मलस्थान की संज्ञा देते हैं।

शिष्य—गुरुदेव! हम सबको केवल दो दो आंखें दिखती हैं फिर मां को तीन नयनवाली कैसे कहते हैं?

गुरु—हे वत्स! हम सबको इन दो नयनों के सिवाय भिन्न और एक नयन है जिसे दिव्य नयन कहते हैं। यह दिव्य नेत्र गुरुकृपा से खुलता है। ज्ञानचक्षु को ही दिव्य नेत्र कहते हैं। इन जड़ चक्षुओं से हम जड़ नाम और रूप के ही दर्शन करते हैं किन्तु नाम और रूप के अन्तर्गत जो चैतन्य है, जिसके जानने से सर्व विज्ञान का लाभ होता है, उसको इन स्थूल चक्षुओं द्वारा दर्शन वा अनुभव नहीं कर सकते हैं। यही बात श्रीकृष्ण भगवान् ने अर्जुन को कही है:—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ अ० ११ ॥

अर्थ—तुम निज (सामान्य) चक्षु द्वारा हमको (अर्थात् हमारे इस विश्वरूप को दर्शन करने में समर्थ न होगे। हम तुमको दिव्य-दृष्टि शक्ति देते हैं। उससे तुम हमारे ऐश्वरक योग (अतीन्द्रिय स्वरूप) के दर्शन करो।

हे वत्स ! गुरु के वताये उपाय से मूलाधारस्थ शक्ति के साथ मनको आज्ञाचक्र में स्थित कर सकने से सविकल्प समाधि योग में साधक को यह दिव्य-दृष्टि लाभ होती है। सो इस दृष्टि द्वारा साधक कूटस्थ चैतन्य में विश्व ब्रह्माण्ड का अनुभव कर सकता है। इस स्थान में साधक के कूटस्थ चैतन्य में विश्वरूप का दर्शन होता है। साधक को साधना द्वारा इस दृष्टि का लाभ होता है। किन्तु मां भगवती को तो सदैव दिव्य-दृष्टि रहती है इससे वे सर्वज्ञ हैं। इसलिए उनका यह दिव्य नेत्र भ्रूमध्य में सूर्य के समान शोभा देता है।

चौथा अध्याय

शिष्य—हे गुरुदेव ! इतने दिन से आपका उपदेशामृत पान कर मन के अनेक संशय दूर हो गये और योगसाधना की तीव्र वासना उदय हुई है। अब मैं जानना चाहता हूँ कि आपकी बताई साधना का अधिकार सब को है या नहीं। मंत्र, हठ, लय और राज, इन चार प्रकार के योगों में मुझे किस प्रकार के योग का अधिकारी समझेंगे ?

गुरु—हे वत्स ! हमारा बताया सिद्ध योग बालक, युवक, और वृद्ध सब सरलता से साध सकेंगे। हठयोगप्रदीपिका, प्रथम उपदेश में लिखा है :—

युवा वृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा ।
अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतन्द्रितः ॥

अर्थ—युवा, वृद्ध, अतिवृद्ध, बीमार, दुर्बल सब आलस्य रहित अभ्यास द्वारा मंत्रहठादि सब योगो में सिद्धि को प्राप्त होवेंगे।

हे पुत्र ! जैसे एक ही विद्यालय में कितनी श्रेणियां रहने पर भी वह एक ही विद्यालय है; ऐसे योग मंत्र, हठ, लय, और राज, ऐसे चार विभागों में विभक्त होने पर भी एक ही योग है। योगशिखोपनिषद् में लिखा है :—

मंत्रो लयो हठो राजयोगोऽन्तर्भूमिकाक्रमात् ।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते ॥

अर्थ—मंत्र, लय, हठ, राजयोग ये एक ही योग की चार अन्तर्भूमिकाएं मात्र हैं। इन चार प्रकारों में विभक्त होकर

वह एक ही योग है। एक हीं योग में चार योग होने से इसे (इस सिद्धयोग को) महायोग कहते हैं।

इस सिद्धयोग को प्राप्त होकर मंत्र हठादि योग समूह की पृथक् पृथक् भाव से साधना आवश्यक नहीं है। श्रीगुरु-कृपा से आप से आप ये सब एक एक के पीछे होती जायंगी। सर्व प्रथम मंत्रयोग और सब के पीछे राज योग की साधना होगी। गुरुद्वारा शक्ति संचारित होने से प्रथम मंत्र योग की साधना आरंभ होगी। मंत्र जपादि होने से हठयोग अर्थात् आसन, मुद्रा और प्राणायाम होवेंगे; प्राणायाम होने से लय योग अर्थात् प्रत्याहार, धारणा और ध्यान, फिर ध्यान के पश्चात् राजयोग अर्थात् सविकल्प और निर्विकल्प समाधि उपस्थित होवेंगी। आगे सविकल्प समाधि और उसके होते ही निर्विकल्प समाधि आवेगी। इसलिए सविकल्प समाधि साधना का फल निर्विकल्प समाधि है। तुम्हारे विशेष बोध के लिये यहां मंत्र, हठ, लय और राजयोग अलग २ समझाते हैं, ध्यान से सुनो।

(१) मन्त्रयोग—

मन्त्रजपान्मनोलयो मन्त्रयोगः।

अर्थ—ॐकारादि मन्त्र (निज निज गुरुदत्त इष्ट देव का बीज मन्त्र या नाम भी) जप करते २ जो मनोलय होता है वही मन्त्रयोग कहलाता है।

(२) हठयोग—

हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चंद्र उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद्धठयोगो निगद्यते॥

सिद्धसिद्धांतपद्धतिः।

अर्थ—सूर्य (पिङ्गला) नाड़ी को हकार और चन्द्र (इड़ा) नाड़ी को ठकार कहते हैं। इन सूर्य और चन्द्र (अर्थात् पिङ्गला और इड़ा नाड़ियों में वहते दो प्राणप्रवाहों) के मिलने को हठयोग कहते हैं। (कोई २ हृदय से मुख और नासिका पर्यंत गतिरूप प्राणवायु को सूर्य और नाभि से पादतल पर्यंत गतिरूप अपानवायु को चन्द्र कहते हैं। इन प्राण और अपान वायुओं के संयोग साधन को ही हठयोग कहते हैं)।

(३) लययोग—

प्रनष्टश्वासनिश्वासः प्रध्वस्तविषयग्रहः ।
निश्चेष्टो निर्विकारश्च लयो जयति योगिनाम् ॥३॥

हठयोग प्र० उपदे० ४।

अर्थ—बाहर की वायु के अन्तर्प्रवेश को श्वास और अन्तरस्थ वायु के बाहर निकालने को निश्वास कहते हैं। जिस अवस्था में ये श्वास निश्वास विलीन हो जावें, इन्द्रियां कोई विषय ग्रहण न करें, देह की क्रिया रूप चेष्टा भी न रहे, मानसिक व्यापार सब बन्द हो जावें, और चित्त निर्विकार हो जावे, उस अवस्था को 'लय' कहते हैं। यह लय योगियों को प्राप्त होता है।

(४) राजयोग—

कुम्भकप्राणरोधान्ते कुर्याच्चित्तं निराश्रयम् ।
एवमभ्यासयोगेन राजयोगपदं व्रजेत् ॥७७॥

हठयो० प्र० उप० २।

अर्थ—कुम्भक योग से प्राणरोध द्वारा चित्त को निरालंब करे। इस अभ्यासयोग द्वारा राजयोग पद की प्राप्ति होती है।

हे वत्स ! तात्पर्य यह है कि कुण्डलिनी शक्ति के जागरण द्वारा अन्तःकुम्भक होता है और उसमें प्राण सुषुम्णा में प्रवेश करता है। सुषुम्णा में गया अन्तःकुम्भक का प्राण भ्रूके कुछ ऊपर निरालम्ब पुरी में रुकजाने से चित्त भी निरालम्ब हो जाता है अर्थात् तब चित्त अवलम्बन या आधार बिना स्थिर रहता है। तब ऐसा भान होता है कि हम आदि और अन्त रहित आकाश के समान शून्य हैं। यही चिदाकाश है। इस समय मन में से वाह्य विषयचिन्ता आप से आप दूर हो जाती है। अत्यन्त नशासा मालूम पड़ता है। आधी वन्द हुई आंखों की दृष्टि भ्रूमध्य में स्थित रहती है और प्राण तब नाक के भीतर ही चलता है यही राजयोगावस्था है। इस प्रकार के दीर्घकाल के अभ्यास से योगी इन्द्रियां और मन का संयम करके सब प्रकार की इच्छाओं के नाश की अवस्था को प्राप्त होता है और अन्त में मुक्ति का लाभ करता है। गीता (अ० ८) में कहा है :—

स्पर्शान्कृत्वा वहिर्वाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यंतरचारिणौ ॥ २७ ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

अर्थ—मन से वाह्य विषय सब दूर करके, दोनों नेत्रों को भ्रूमध्य में लगाकर, प्राण और अपान वायु को नासा में रोक कर, जो इन्द्रिय, मन और बुद्धि को संयम करता है और इच्छा, भय, क्रोध पूर्णतया जीत लेता है ऐसा मोक्षपरायण मननशील साधक सदा ही मुक्त है।

हठयोगप्रदीपिका (उ० ४) में लिखा है :—

राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्वतः।
ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ? ॥

अर्थ—राजयोग का सच्चा माहात्म्य कौन जानता है। गुरु-वाक्यानुसार राजयोग साधन करने से जीव-ब्रह्म की ऐक्यता का ज्ञान, ब्राह्मीस्थिति अर्थात् अखण्ड चैतन्य में मन की स्थिरता, मुक्ति अर्थात् सर्वदुःखनिवृत्ति रूप परमानंद प्राप्ति, और सिद्धि अर्थात् अणिमादि अष्ट प्रकार की सिद्धियां लाभ होती हैं।

हे वत्स! प्रथम मंत्रयोग और अन्त में राजयोग होता है। मंत्र और हठ (अर्थात् प्राण अपान की एकता) के बिना कोई दूसरी प्रकार से राजयोग लाभ नहीं कर सकता है; जैसे कर्म न कर कोई कर्म की परावस्था को नहीं पा सकता है। कर्म की परावस्था के लाभ पूर्व ही यदि कोई कर्म त्याग करे तो उसे शान्तिरूप परम सिद्धि का लाभ न होगा। मनकी स्वाभाविक चंचलता है इस कारण जप, स्तोत्रपाठ, पूजा और प्राणायामादि साधनारूप कर्म की आवश्यकता है। साधना द्वारा मन की चंचलता नष्ट न कर मन को निरालम्ब करने की चेष्टा करने से मनकी स्थिरतारूप राजयोग प्राप्त करने में नाना प्रकार के चित्तविक्षेप उपस्थित होते हैं और साधक को क्लेश देते हैं। गीता में श्रीकृष्ण भगवान्‌ने अर्जुन को कहा है :—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ अ० ३ ॥

अर्थ—पुरुष चित्त शुद्ध कर कर्मानुष्ठान न करे तो निष्क्रिय भाव (अर्थात् कर्म की परावस्था रूप ज्ञान) प्राप्त नहीं होता। इस ज्ञान प्राप्ति के पूर्व कोई सन्यास ग्रहण करे (अर्थात् कर्म त्याग करे) तो उसे मोक्ष रूप सिद्धि लाभ न होगा।

हे वत्स ! शुद्ध और अशुद्ध भेद से मन या चित्त दो प्रकार का है:—

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च ।
अशुद्धं कामसङ्कल्पं शुद्धं कामविवर्जितम् ॥ १ ॥

(अमृतविन्दूपनिषद्)

अर्थ—शुद्ध और अशुद्ध भेद से मन दो प्रकार का बताया है। काम और सङ्कल्पयुक्त मन अशुद्ध और वासनारहित मन शुद्ध है।

काम सङ्कल्प द्वारा ही मन चञ्चल होता है और वासना रहित होकर स्थिर होता है। इसी स्थिर शुद्ध चित्त में जीव ब्रह्म का भेदज्ञाननाशकारी और "हम चैतन्य-स्वरूप ब्रह्म हैं" ऐसी वृत्तिवाला ज्ञान उदय होता है।

शिष्य—गुरुदेव ! अणिमादि अष्टसिद्धि कौन २ हैं और साधक को ये सब किस अवस्था में प्राप्त होती हैं ?

गुरु— हे वत्स ! तुम्हारा प्रश्न उत्तर देने योग्य है पर एक बात से सावधान रहना। कभी सिद्धि सिद्धि करके महासिद्धिस्वरूप आत्मतत्व से विचलित न होजाना।

अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व, यत्रकामावसायित्व, ये आठ प्रकार की सिद्धियाँ हैं।

१ अणिमा—अपने शरीर को अपनी इच्छानुसार अति सूक्ष्म बनाने की योग्यता। देवगण और सिद्धगण इसी सिद्धि के बल से इच्छानुरूप सूक्ष्म शरीर धारण कर बिना किसी के देखे नाना स्थानों में भ्रमण कर सकते हैं।

२। महिमा—अपने शरीर को अपनी इच्छानुसार बड़ा बनाने की योग्यता।

३ । लघिमा—अपने शरीर को अपनी इच्छानुसार लघु अर्थात् हलका करने की योग्यता। इस योग्यता की सहायता से आकाश पथ में स्वतंत्र रूपसे गमन किया जाता है।

४ । प्राप्ति—एक स्थान में बैठे सर्व स्थान स्थित वस्तु को ग्रहण करने की सामर्थ्य।

५ । प्राकाम्य—इच्छानुरूप भोगप्राप्ति में बाधाओं का अभाव।

६ । ईशत्व—स्वामित्व रूप ऐश्वर्य अर्थात् सबके ऊपर अधिकार करने की योग्यता।

७ । वशित्व—सबको वश करने की योग्यता।

८ । यत्रकामावसायित्व—इच्छामात्र से ही इच्छित वस्तु की प्राप्ति।

हे वत्स ! ये आठ सिद्धियां कल्पित और अकल्पित भेद से २ प्रकार की हैं। मंत्र, औषध, और उपास्यादि द्वारा यदि सिद्धि लाभ होवे तो वह कल्पित है। ऐसी सिद्धियां अनित्य और अल्पवीर्य (बलहीन) होती हैं। पर यदि दीर्घकाल कामनारहित हो योगसाधना करे तो एक अखंड चैतन्य के साक्षात्कार द्वारा जीव ईश्वर की एकता विषय में दृढ़ ज्ञान हो जावेगा और स्वभावतः सिद्धिसमूह प्रगट होगा। तब वे अकल्पित सिद्धियां कहावेंगी। ऐसी प्राप्त सिद्धियां अमोघ और नित्यस्थायी होती हैं; क्योंकि साधक तब ईश्वर के साथ एकत्व भाव को प्राप्त होकर ईश्वर की क्षमता और ऐश्वर्य समूह का पूर्ण अधिकारी बन जाता है। योगशिखोपनिषद, अ० १, में लिखा है :—

रसौषधिक्रियाजालमंत्राभ्यासादिसाधनात्।
सिध्यन्ति सिद्धयो यास्तु कल्पितास्ताः प्रकीर्तिताः ॥ १९२ ॥
अनित्या अल्पवीर्यास्ताः सिद्धयः साधनोद्भवा।
साधनेन विनाप्येवं जायंते स्वत एव हि ॥ १९३ ॥
स्वात्मयोगैकनिष्ठेषु स्वातंत्र्यादीश्वरप्रियाः।
प्रभूताः सिद्धयो यास्ताः कल्पनारहिताः स्मृताः ॥ १९४ ॥
सिद्धा नित्या महावीर्या इच्छारूपाः स्वयोगजाः।
चिरकालात् प्रजायन्ते वासनारहितेषु च ॥ १९५ ॥

अर्थ—धातुरूपरसवस्तु, उद्भिज्ज औषध, नानाविध क्रियानुष्ठान या मंत्राभ्यासादि साधना द्वारा जो सिद्धियां प्राप्त होती हैं उन्हें कल्पित कहते हैं। ये सकल साधना से प्राप्त सिद्धिसमूह अनित्य और अल्पवीर्य होती हैं अर्थात् इन सिद्धियों की प्राप्ति में मनुष्य की चेष्टा और द्रव्यादि संग्रह ही कारण होने से वे नित्यस्थायीफलदायक नहीं होतीं, और अनुष्ठान अंगहीन होने से वे एकदम ही निष्फल हो सकती हैं। सब रीति से स्वाधीन स्वात्मयोगनिष्ठ सिद्ध पुरुष के पास विना प्रयत्न के आपसे आप जो सिद्धियां उपस्थित होती हैं उन्हें अकल्पित या कल्पनारहित सिद्धि कहते हैं। वासनारहित योगी के पास दीर्घकाल योग साधन के पीछे आत्मयोग होते ही सिद्धिसमूह उत्पन्न होता है। ये उस सिद्ध पुरुष की इच्छा मात्र का फल रूप होने के कारण नित्य और महाशक्तिशाली हैं। अर्थात् सिद्ध पुरुष के मन में इच्छा के उदय होते ही वे सिद्धियाँ उपस्थित होती हैं। इसलिए वे सिद्धियाँ उसके पास नित्य अमोघ (फलदायक) रूप से रहती हैं।

शिष्य—गुरुदेव ! आपके पूर्व के उपदेश से मैंने समझा है कि कुण्डलिनीशक्ति के जगने पर एक मात्र मन्त्र या ध्यानादि द्वारा आप से आप आसन, मुद्रा, प्राणायाम और

अत्याहारादि होने लगते हैं और इस प्रकार के क्रम से परम सिद्धि अर्थात् आत्मसाक्षात्कार का लाभ होता है। अब मैं जानना चाहता हूँ कि किस प्रकार के अधिकारी को कितने दिन की साधना से उस परम सिद्धि का लाभ होगा।

गुरु—हे वत्स ! मृदु, मध्य, अधिमात्र, और अधिमात्रतम ऐसे चार प्रकार के साधक होते हैं। उन में से कौन साधक कितने दिन में सिद्धि लाभ कर सकेगा यह तुमको विस्तारपूर्वक बताता हूँ।

१ मृदुसाधक—मन्दोत्साही अर्थात् साधारण उत्साह-वाला और प्रतिभा (तेज) रहित, व्याधिग्रस्त, गुरुदूषक जो गुरु के कार्य में दोष निकाले या गुरु निन्दा करे, जो लोभी हो, पाप कार्य में खिंचता हो, बहु भोजनशील, स्त्रीजित, चपल, परिश्रम में कातर (कायर) पराधीन, अतिनिष्ठुर, मन्दाचारी, मन्दवीर्य ऐसे साधक "मन्दसाधक" कहे जाते हैं। ऐसे अधिकारी विशेष यत्न करें तो बारह वर्ष में सिद्धिलाभ अर्थात् आत्मचैतन्य साक्षात्कार कर सकेंगे।

२ मध्यसाधक—जो समबुद्धि, क्षमाशील, पुण्याकांक्षी, प्रियवादी हैं, जो किसी कार्य में लिप्त नहीं होते, ऐसे साधक को "मध्यसाधक" कहते हैं। ऐसे अधिकारी विशेष चेष्टा करने पर ९ वर्ष में सिद्धि लाभ कर सकेंगे।

(३) अधिमात्र साधक—जो स्थिरबुद्धि हो, लय साधन में हमेशा लगे, स्वाधीन, वीर्यशाली, महाशय, दयाशील, क्षमावान्, सत्यनिष्ठ, शौर्यशाली, गुरुचरणकमलपूजापरायण, हो और योगाभ्यास में सदैव लगे, ऐसे साधकों को अधिमात्र साधक कहते हैं। ऐसे अधिकारी विशेष यत्न करने पर ६ वर्ष में सिद्धि लाभ कर सकेंगे।

(४) अधिमात्रतम साधक—महावीर्य, महोत्साही, मनोज्ञ, शौर्यशाली, शास्त्रज्ञ, अभ्यासशील, मोहशून्य, निराकुल (व्यस्तता रहित), नव यौवन सम्पन्न, मिताहारी, विजितेन्द्रिय, निर्भीक, विशुद्धाचारी, सुदक्ष, दाता, सब जनों के प्रति अनुकूल, सर्व विषय में अधिकारी, स्थिरचित्त, धीमान्, यथेच्छस्थानावस्थित, क्षमावान्, सुशील, धर्मनिष्ठ, गुप्तचेष्ट, प्रियभाषी, शान्त, विश्वास सम्पन्न, देव-गुरु-पूजापरायण, जनसङ्गविरक्त, महाव्याधि-परिशून्य, सब विषय में अग्रगण्य, और ब्रह्मज्ञ ऐसा साधक अधिमात्रतम साधक कहाता है। ऐसा अधिकारी विशेष यत्न करे तो तीन वर्ष में सिद्धि लाभ कर सकेगा।*

हे वत्स! जो इस प्रकार के अधिकारी भी हैं पर यदि गुरुदत्त क्रिया का अभ्यास यत्न के साथ नहीं करते तो उनको सिद्धिलाभ न होगा। क्रिया ही सिद्धि का मूल है। हठ-योग-प्रदीपिका में प्रथम उपदेश लिखा है।

क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत्।
न शास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते ॥ ६९ ॥
न वेशधारणं सिद्धेः कारणं न च तत्कथा।
क्रियैव कारणं सिद्धेः सत्यमेतन्न संशयः ॥ ६६ ॥

अर्थ—गुरु की बताई क्रिया का अनुष्ठान करने से ही योग सिद्धि मिलती है—क्रिया में रत न होने से कैसे सिद्धि मिल सकती है? केवल शास्त्र पढ़ने से योगसिद्धि नहीं होती। योगी का वेष, काषाय वस्त्रादि धारण करने से

---

* चार प्रकार के साधकों के लक्षण शिवसंहिता में लिखे हैं। यहां उनका अनुवाद मात्र दिया है। आवश्यकता हो तो मूल ग्रन्थ देख लिया जावे।

कुछ सिद्धि नहीं होती, न योग की कथा आलोचना या वक्तृता देने से ही कोई योगी हो सकता है। क्रिया ही सिद्धि का मूल है। गुरुदत्त क्रियानुष्ठान द्वारा ही योगसिद्धि होती है। इसमें संशय नहीं है।

देखो, वत्स! एक बार एक युवक किसी महात्मा संन्यासी के पास गया और वैराग्य-वसन (वैरागी के कपड़े) मिलने की प्रार्थना की। उसके उत्तर में संन्यासी ने कहा कि हे पुत्र! पुरुष क्या स्त्री के कपड़े पहिनने से सत्य ही में स्त्री हो जाता है? जैसे वह स्त्री नहीं हो जाता वैसे ही क्रियानुष्ठान बिना योगी के कपड़े पहिननेसे कोई योगी नहीं बन जाता।

शिष्य—गुरुदेव! आपकी बताई साधना के साथ साथ और कोई नियम भी पालन करने पड़ते हैं क्या?

गुरु—हां वत्स यम और नियम का भी अभ्यास साथ २ करना पड़ता है जैसे आरोग्य प्राप्त करने का मूल कारण दवाई है पर उसके साथ साथ पथ्यादि पालन की भी आवश्यकता है; वैसे ही गुरुदत्त क्रियारूप योगानुष्ठान के साथ २ नियम के अनुष्ठान की आवश्यकता है।

शिष्य—हे पिता यम और नियम क्या हैं कृपापूर्वक समझा दीजिये।

गुरु—हे पुत्र! अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह ये पांच यम; और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, और ईश्वरप्रणिधान, ये पांच नियम कहाते हैं। तुम्हारे समझने के लिए प्रत्येक का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं। सुनो।

यम-पंचक

१ अहिंसा—शरीर मन या वचन से किसी प्राणी को किसी प्रकार का क्लेश न देना इसका नाम अहिंसा है। सर्व प्रकार से सब प्राणियें के प्रति विद्रोहभाव परित्याग करना अहिंसा कहता है*। जाति, देश, काल, के कारण यह अहिंसा भी सीमाबद्ध या परिमित (छोटी) हो सकती है। जैसे ढीमर (धीवर) लोग मच्छी मारने का धन्धा करते हैं। ढीमर लोगों में यदि कोई अपना रोजगार होने के कारण मच्छी मारना न छोड़ सके पर और सब हिंसा त्याग देवे तो उसकी यह अहिंसा जाति द्वारा सीमाबद्ध या परिमित हो गई है ऐसा जानना। कोई व्यक्ति तीर्थ में जाकर केवल वहां ही अहिंसा का पालन करते हैं; पर और जगह हिंसा का त्याग नहीं कर सकते ऐसी हिंसा देश द्वारा सीमाबद्ध होती है। चतुर्दशी इत्यादि पर्व दिन अथवा दूसरे पुण्यदिनों में अहिंसा का पालन करने से वह अहिंसा काल द्वारा सीमाबद्ध होती है। इनके सिवाय विशेष विशेष समय और उपलक्ष्य द्वारा भी अहिंसा सीमाबद्ध हो सकती है; जैसे देवता और ब्राह्मणार्थ छोड़कर और दूसरी हिंसा न करना। क्षत्रियों के पक्ष में युद्ध समय को छोड़ अन्य सकल समय हिंसा का त्याग करना; आत्मरक्षार्थ किंवा परपीड़ा निवारणार्थ छोड़ और कहीं हिंसा न करना। तो जो लोग यम नियमादि योग साधन करते हैं उनके पक्ष में जाति, देश, काल या समय द्वारा सीमाबद्ध न करके सब प्रकार से अहिंसा व्रत का पालन करना आवश्यक है।

---

*अहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः ॥

(योगसूत्र व्यासभाष्यम्)

२ सत्य—वाणी और मन एक होने से उसको सत्य कहते हैं। जो प्रत्यक्ष देखा है या अनुमान या श्रवण किया है उसी के कथन में ज्ञान, मन और वाक्य एक होने से उसको सत्य कहते हैं। अपना बोध दूसरे को बताने के लिये ही वाक्य बोलते हैं। वह वाक्य यदि धोखा देने को या भ्रम उत्पन्न करने को अथवा श्रोता में अयथार्थ ज्ञान उत्पन्न करने के लिए न होवे, सर्वभूत-उपकारार्थ हो और जीवों के अनिष्ट के लिए न हो तो उसे "सत्य" कहते हैं।

३ अस्तेय—शरीर मन और वाक्य द्वारा पर द्रव्य की इच्छा न करना अस्तेय कहाता है।*

४ ब्रह्मचर्य—गुप्त इन्द्रिय (उपस्थ) के संयम को ब्रह्मचर्य कहते हैं।† अर्थात् सर्वावस्था में सर्वत्र शरीर मन वाणी द्वारा मैथुन का त्याग ब्रह्मचर्य कहाता है।‡ मैथुन आठ प्रकार का है जैसे :—

स्मरणं कीर्तनं केलिः स्पर्शनम् गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रिया निर्वृत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टागं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः॥

---

* अस्तेयनाम मनोवाक्कायकर्मभिः परद्रव्येषु निःस्पृहा।
(शांडिल्योपनिषद् अ० १—१)

† ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः।
(योगसूत्र व्यासभाष्य)

‡ ब्रह्मचर्यं नाम सर्वावस्थासु मनोवाक्-कायकर्मभिः सर्वत्र मैथुनत्यागः। (शांडिल्योपनिषद् अ० १—१)

अर्थ—काम भाव से स्त्री का स्मरण, उस विषय का कीर्तन या कथोपकथन उसके साथ केलि या खेल, उसका स्पर्श, उसके साथ एकान्त में बात चीत, मैथुन भोग का संकल्प, उस संकल्प को पूरा करने के लिए उपाय करना, और क्रिया पूरी करना अर्थात् संगम द्वारा वीर्यपात, ये मैथुन के आठ प्रकार ज्ञानियों ने कहे हैं। इसके विपरीत अर्थात् इन सब का त्याग ही ब्रह्मचर्य कहाता है।

शिष्य—गुरुदेव! जिनका विवाह हो गया है वे यदि ऐसा ब्रह्मचर्य पालन करें तो फिर प्रजापति की सृष्टि रक्षा कैसे हो सकेगी?

गुरु—हे वत्स! जो नैष्ठिक अर्थात् जीवन भर कुमार ब्रह्मचारी या जो सदैव अरण्यवासी हैं, जो सन्यासी हैं, उनके लिए उपरोक्त ब्रह्मचर्य कहा गया है। किन्तु जो गृहस्थ अर्थात् विवाहित हैं उनके लिए शास्त्र ने दूसरे प्रकार के ब्रह्मचर्य का विधान किया है सो बताते हैं। सुनो:—

ऋतावृतौ स्वदारेषु संगतिर्या विधानतः।
ब्रह्मचर्यं तदेवोक्तं गृहस्थाश्रमवासिनाम्॥

अर्थ—ऋतुकाल में निज भार्या के साथ शास्त्रोक्तानुसार जो संगम है वही गृहस्थाश्रमवासियों का ब्रह्मचर्य है।*

---

*पुत्रोत्पादन के लिए ही भार्या ग्रहण है, कामभोग के लिए नहीं। पुत्रकामनायुक्त गृहस्थ निम्नलिखित शास्त्रविधान के अनुसार प्रति ऋतुकाल में भार्यागमन कर सकता है। उससे उसके ब्रह्मचर्य को हानि न होगी।

अमावस्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम्
ब्रह्मचारीभवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः॥ मनु० ४-१२८॥

अपरिग्रह—विषयों का उपार्जन, रक्षण, क्षय, आसक्ति और हिंसारूप दोषसमूह को देखकर विषय परिग्रह से विरत होना यह अपरिग्रह है*

अर्थ—स्नातकद्विज (समावर्तनप्राप्त-गृहस्थ) भार्या के ऋतुकाल में और अमावास्या, पूर्णिमा, अष्टमी और चतुर्दशी, इन तिथियों में ब्रह्मचारी रहे (अर्थात् स्त्रीसंग परित्याग करे)।

लोकानंतां दिवःप्राप्तिं पुत्रपौत्रप्रपौत्रकैः।
यस्मात्तस्मात्स्त्रियः सेव्याः भर्तव्याश्च सुरक्षिताः॥
षोडशर्तु निशाः स्त्रीणां तासु युग्मासु संविशेत्।
ब्रह्मचार्येव पर्वाण्याद्याश्चतस्रस्तवर्जयेत्॥
एवं गच्छन् स्त्रियं क्षामां मघां मूलं च वर्जयेत्।
शस्त इन्दौ सकृत्पुत्रं लक्षण्यं जनयेत् पुमान्॥

याज्ञवल्क्य संहिता

अर्थ—पुत्रपौत्रप्रपौत्रादिद्वारा इस लोक में वंशविस्तार और मरने पर स्वर्ग प्राप्ति होवे इसलिए पुत्रार्थ स्त्री सेवा, उनका भरण पोषण और उत्तम रूप से उनकी रक्षा करनी चाहिये। स्त्रियों का ऋतुकाल सोलह रात्रियों का है उसमें से प्रथम चार रात्रि और अष्टमी, चतुर्दशी, अमावास्या, पूर्णिमा और संक्रान्ति ये सब पर्वदिन और मघा और मूलनक्षत्र छोड़कर अच्छे चंद्रमा में युग्म ६-८-१०-१२-१४-१६ वीं रात्रि में व्रतक्षीणा (ऋतुकाल में आहार विहारादि के पालन करनेवाली) भार्या में उपगत होवे ; ऐसा होने से ही सुलक्षणवाला पुत्र जन्मेगा।

*विषयानामर्जनरक्षणक्षयसंग हिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः।

(योगसूत्र व्यासभाष्य)

नियम-पञ्चक

१ शौच—मृत्तिका और जलादि द्वारा स्नान से उत्पन्न शौच और पवित्र आहार शौच हैं। यह बाह्य शौच हुआ।

चित्तमल दूर करने को भीतरी शौच कहते हैं।* प्राणायामादि द्वारा आभ्यंतरिक शौच सधता है।

२ संतोष—ईश्वर इच्छा से या प्रारब्धवश से जब जो कुछ मिले उसी से सुखी होना सन्तोष कहाता है।†

३ तपस्या—द्वन्द्व सहन को तपस्या कहते हैं। द्वन्द्व जैसे भूख-प्यास, शीत-उष्ण, उठना-बैठना, काष्ठमौन (अर्थात् इशारे से भी अपना अभिप्राय प्रकट न करना) और आकार मौन (केवल बात न करना), शास्त्रविधि के अनुसार चान्द्रायण और सान्तपनादि व्रत का अनुष्ठान तपस्या कहाता है।‡ तपस्या से शरीर सूखता है।

४ स्वाध्याय—मोक्ष शास्त्र (जैसे गीता, योगवाशिष्ठ,

---

* शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्या भावहरणादि च वाह्यम्। आभ्यन्तरं चित्तमलानां क्षालनम्।

(योगसूत्र व्यासभाष्य)

† संतोषो नाम यदृच्छा-लाभ-सन्तुष्टिः

(शांडिल्योपनिषद्)

‡ तपः द्वन्द्वसहनम्, द्वन्द्वश्च जिघत्सपिपासे, शीतोष्णो, स्थानासने, काष्ठमौनाकारमौनेच व्रतानिचैव यथायोगं कृच्छचांद्रायणसांतपनादीनि।

(योगसूत्र व्यासभाष्य)

उपनिषदादि) पाठ अथवा प्रणव जप को स्वाध्याय कहते हैं। यहाँ प्रणव जप से अपने २ इष्ट मंत्र को समझना। *

५ ईश्वरप्रणिधान—परमगुरु परमेश्वर में या परमात्मा में समस्त कर्म अर्पण कर देने को ईश्वरप्रणिधान कहते हैं।†

शिष्य—भगवन्! ईश्वर में कर्मार्पण किस प्रकार करना चाहिये?

गुरु—साधारणतः "अहं कर्त्ता" (मैं कर्त्ता हूँ) ऐसा भान होने से ही कर्म होता है। 'हम कर्त्ता नहीं हैं एक मात्र ईश्वर ही कर्त्ता है। हम यंत्र हैं और वह यंत्री है' ऐसा मनमें निश्चय कर लेकर, कर्मफल की इच्छा न रख, कर्म करने से ही ईश्वर को कर्मार्पण करना होता है। 'अहं कर्त्ता' रूप अभिमान छूटने से कर्मफल में स्पृहा (इच्छा) नहीं रहती। जैसे राजसेना राजा की जय के लिए युद्ध करती है और राज्यप्राप्ति वा अप्राप्ति में उसको किसी प्रकार की स्पृहा नहीं रहती, जैसे उसे मालूम है कि हम तो राजा की आज्ञा के पालनकरनेवाले मात्र हैं; राज्य प्राप्ति वा अप्राप्ति, जय किम्वा पराजय, सब राजा की है वैसा भाव साधक का होना चाहिये।

शिष्य—प्रभु! इन अहिंसादि गुणों की पूर्णप्राप्ति होने से क्या लाभ होगा। यह जानने की इच्छा है। कृपापूर्वक यह सविस्तार समझाइये।

गुरु—हे वत्स! अहिंसादि गुणों की पूर्ण प्राप्ति होने से

---

* स्वाध्यायः मोक्षशास्त्राणामध्ययनम् प्रणवजपो वा। (ऐ)

† ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन्परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्। (ऐ)

साधक को जो सिद्धियां लाभ होती हैं वे तुम्हें शास्त्रीय प्रमाण सहित कहता हूँ। पातंजल योगसूत्र में लिखा है :—

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ ३९ ॥ पाद २

अर्थ—अहिंसा की पूर्णता व स्थिरता होने से साधक के सम्बन्ध में और उसके निकट में अन्य सब प्राणियें की हिंसा-बुद्धि दूर हो जाती है।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वं ॥ ३६ ॥

सत्यकी प्रतिष्ठा (पूर्णता) होने से उसकी वाणी और विचारों में क्रियाफलदान की शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

इसका तात्पर्य यह है कि सत्यप्रतिष्ठित साधक के मुख से यदि निकले कि 'तुम धार्मिक होओ' तब वह मनुष्य धार्मिक हो जायगा। यदि वह बोले कि 'स्वर्गलाभ कर' तब उसे स्वर्गलाभ हो जायगा। वह यदि किसी के प्रति आरोग्यकर अथवा दूसरी कोई मंगल कामना करे तो वह सफल हो जायगी। सत्यप्रतिष्ठित व्यक्ति की सब बोली सत्य हो जाती है।

(३) अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानं ॥ ३७ ॥

साधक में अस्तेय की पूर्णता या स्थिरता (प्रतिष्ठा) होने से उसके निकट सर्वदेशस्थ रत्न उपस्थित होते हैं।

(४) ब्रह्मचर्यं प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

ब्रह्मचर्यकी प्रतिष्ठा (स्थिरता) होनेसे साधकको वीर्य लाभ होता है। वीर्य लाभ होने से साधना के अनुकूल गुणसमूह बाधाशून्य होकर परमोत्कर्ष को प्राप्त होते हैं और सिद्धि (आत्मज्ञान) लाभ होता है। तब उस विनीत व्यक्तिमें ज्ञान और शक्तिसञ्चार करने की सामर्थ्य उत्पन्न होती है।

(५) अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥३९॥

अपरिग्रह के स्थिर होनेसे जन्म के वृत्तान्त विषयका ज्ञान जन्मता है। इसका तात्पर्य यह है कि हम पूर्व जन्म

में क्या थे, कैसे थे, इस जन्म में क्या हैं, यह जन्म कैसे हुआ है, भविष्य जन्म क्या और किस निमित्त होगा, इस प्रकार पिछले, वर्तमान्, और भविष्य जन्म विषय की जिज्ञासा और उसकी मीमांसा भी यथार्थरूप से उपस्थित होती है। हे वत्स! यम प्रतिष्ठित होने से ये सब फल साधक के निकट उपस्थित होते हैं। अब नियम प्रतिष्ठाद्वारा जो सिद्धियें आती हैं उनको भी पातञ्जल योग सूत्र (पाद २) इस प्रकार बताता है।

(१) शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥४० ॥

अर्थ—शौच प्रतिष्ठित होने से निज अंगसमूह के प्रति घृणा और परदेह संसर्गकी अनिच्छा उत्पन्न होती है। जल और मृत्तिका वगैरा से प्रतिदिन निजशरीर धोने और नहलानेसे निज देह की शुद्धि पूरे रूप से नहीं होती ऐसा देखा जाता है। तब शौचप्रतिष्ठित या शौचशील व्यक्ति दूसरेके अत्यंत अशुद्ध शरीर के संसर्ग की अभिलाषा कैसे करेगा? शुचि व्यक्ति की सत्वशुद्धि होती है अर्थात् उसका रज और तम संग्रह दूर होकर चित्त की निर्मलता प्राप्त होती है। उससे मन की प्रसन्नता और एकाग्रता जन्मती है और इन्द्रियजय होता है। इसके बाद बुद्धिसत्व में अर्थात् शुद्धचित्तमें आत्मदर्शनलाभकी योग्यता उत्पन्न होती है।

(२) संतोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ ४२ ॥

अर्थ—सन्तोष प्रतिष्ठित होने से अनुपम सुख का लाभ होता है। तृष्णा और आशाका नाश होना ही परम संतोष है, इसके समान सुख नहीं है। इस सुखकी तुलना करनेसे स्वर्गसुख तुच्छ जान पड़ता है। दूसरे शास्त्रग्रन्थ में लिखा है कि—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखं।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीम् कलाम् ॥

अर्थ—इसलोकमें जो कामसुख है और स्वर्गका जो महत्सुख है ये सब (अर्थात् पृथ्वीके भोगसुख और स्वर्गके भोगसुख) तृष्णाक्षय (आशानाश) जनित सुखके सोलहवें अंशके बराबर भी नहीं हैं।

(३) कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥

अर्थ—तपस्या प्रतिष्ठित होनेसे देह और चित्तकी अशुद्धि क्षय होकर देह और इन्द्रियोंकी सिद्धि मिलती है।

तपस्यासे शरीर सूखता है। देह और इन्द्रियोंकी अशुद्धि आवरणरूप मल समूहका नाश होता है। इस मलके निकल जानेसे देह सम्बन्धीय अणिमादि सिद्धिसमूह और दूरश्रवण, दूरदर्शन वगैरह इन्द्रिय संबन्धीय सिद्धियां प्रगट होती हैं।

(४) स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः ॥४४॥

अर्थ—स्वाध्याय की पूर्णता से इष्ट देवता की उपलब्धि और साक्षात्कार होता है।

देवगण, ऋषिगण, सिद्धगण, स्वाध्यायशील व्यक्ति के दृष्टिगोचर होकर उसे उसकी साधना में सहायता देते हैं अर्थात् उसे इष्ट देवता की सहायता का लाभ होता है।

(५) समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥४५॥

अर्थ—ईश्वर प्रणिधान होने से,समाधि का लाभ होता है। जिसने ईश्वर को अपने सब कर्म अर्पणकर दिये हैं और जो इस प्रकार अनन्यचित्त हो गया है उसका चित्त निर्मल और एकाग्र होकर शीघ्र ही उसे समाधिलाभ होता है। वह ईश्वर भावमें मग्न होकर परमानन्द को प्राप्त होता है। वह सब अवस्थाओं में सर्वत्र ईश्वर दर्शन के लिए परम शान्ति में बना रहता है।

पञ्चम अध्याय

शिष्य—किन उपायों से योग सिद्ध हो सकता है सो कृपापूर्वक समझा दीजिये।

गुरु—हे वत्स! संसाररूपी दावानल अग्नि में जला व्यक्ति शान्ति का प्यासा होकर आरम्भ से ही ज्ञानवान् त्यागी गुरु के निकट भेंट हस्त में ले उपस्थित होकर और लज्जा न कर श्री गुरुचरण में दण्डवत् प्रणाम करे, यत्नपूर्वक गुरु को सन्तुष्ट करे और उनके उपदेशानुसार योग-साधन करे तो उसे अल्प समय में ही उस साधना का फल प्राप्त होगा। ज्ञानदाता गुरु ही पितृस्वरूप, मातृस्वरूप और देवतास्वरूप है। इसलिए साधकगण काय, मन, और वाणी से सब प्रकार से गुरुसेवा करते रहें। गुरु यदि प्रसन्न हो जावें तो सब शुभ फल प्राप्त होते हैं। इसलिए सर्वदा गुरुसेवा करना यह कर्तव्य है। गुरुसेवा के सिवाय शुभ फल की आशा करना वृथा है। श्रुति, स्मृति, पुराण, और इतिहासों में भी गुरुसेवा की कथाएँ वार २ मिलती हैं। जो व्यक्ति विषयों में आसक्तचित्त है, जो सर्वदा बहुत लोगों का सहवास करता है, जो मिथ्या व्यवहार में लगा है, जो असत्य और कठोर वाक्य बोलता है, जो अविश्वासी और गुरुपूजा विहीन है, गुरु को सुन्तुष्ट करने में यत्नवान् नहीं है उसे किसी प्रकार योग सिद्ध नहीं हो सकता।

'गुरु के पास जो योगमार्ग हमें मिला है उससे निश्चय ही हमें सिद्धिलाभ होगा' ऐसा विश्वास सिद्धि का प्रथम लक्षण है।

सिद्धि का दूसरा लक्षण श्रद्धा अर्थात् गुरु और शास्त्र वाक्य में विश्वास; तीसरा लक्षण गुरुपूजा; चौथा लक्षण समताभाव (सर्वत्र सम दर्शन); पञ्चम लक्षण इन्द्रिय संयम; षष्ठ लक्षण परिमित आहार। इनके सिवाय योग सिद्धि का सप्तम लक्षण और कोई नहीं है।

योग साधना काल में अम्ल द्रव्य (खट्टे पदार्थ) रसहीन रुक्ष पदार्थ (जैसे मुर्री, चने), मिरचादि तीक्ष्ण द्रव्य, कड़वे पदार्थ जैसे नीम, अपक्कलवण, सरसों और सरसों का तेल इत्यादि योग-विघ्नकर खाद्य पदार्थों का आहार बिलकुल निषिद्ध है। खटाई में कागदी वा बड़ा नीबू खाया जा सकता है। योग साधक को बहु भ्रमण, प्रातःस्नान, (सूर्योदय के पीछे का) उपवास, अङ्ग में तैलमर्दन, अग्निसेवा, मैथुन कर्म, वाचालता वा बहुत बोलना, अति भोजन, प्रियाप्रिय विचार, इन सबका परित्याग करना आवश्यक है।

शिष्य—देव! जिसे एकादशी आदि विशेष विशेष उपवास करनेका अभ्यास है उसे क्या करना उचित है और जिसे विवाहित जीवनमें ही योगपथ लाभ करना है उसके स्त्री सहवास न करनेसे प्रजापतिकी सृष्टिरक्षा कैसे हो सकेगी? उसे क्या करना उचित है?

गुरु—वत्स! जिसे योगसाधन करना है उसके लिए उपवासादि देह पीडादायक कर्म करना मना है क्योंकि उससे साधनामें विशेष विघ्न होनेकी संभावना है। एकादशी, अमावस्या, पूर्णिमादि तिथियोंमें शरीरमें साधारणतः रसकी अधिकता होती है। इन तिथियोंमें उपवास करनेसे रस संचय का निवारण होता है। इस कारण शास्त्रमें उपवासका विधान है; किन्तु योगीके उपवास न करनेसे भी प्राणायामादि द्वारा

ही उसके शरीरके रस वातादि दोष दूर होजाते हैं। योग साधकोंका शरीर साधारणतः ही वायु प्रधान होता है इसलिए उपवासादिसे उसके शरीरके रुक्ष होजाने की सम्भावना है। इसी कारण योगशास्त्रमें उपवासका निषेध है। एकादशी, जन्माष्टमी, शिवरात्रीआदिका उपवास शारीरिक तपस्यामें गिना जाता है पर प्राणायामके तुल्य तपस्या दूसरी नहीं है। पातंजल योगसूत्रके व्यास भाष्यमें लिखा है :—

तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मल दीप्तिश्च ज्ञानस्येति।

अर्थ—प्राणायामसे श्रेष्ठतर तप नहीं है। उससे शरीर और मनके मल धोयेजाते हैं और ज्ञान प्रकट होता है।

तपस्याका उद्देश्य पापका नाश करना है। पाप ही मैल है। एक मात्र प्राणायाम द्वारा ही सब पाप वा मल नाशको प्राप्त होते हैं और चित्तशुद्धि और समाधिलाभ हो सकते हैं। हे वत्स! एक कर्म द्वारा ही यदि सकल फल लाभ करनेकी सुविधा मिले तो पृथक्-पृथक् भावसे अन्यान्य कर्म करनेकी क्या आवश्यकता है? इसलिए जिसे इन सब उपवासादिका तीव्रसंस्कार है उसे निरा उपवास न कर फलमूलादिका भोजन और दुग्धादिका पान करना उचित है। जिसे योगमार्गमें प्रवेश नहीं करना है उसे इन उपवासादि तपस्या की मनाई नहीं है।

तुम्हारे दूसरे प्रश्नका यही उत्तर है कि जो विवाहित है वह पुत्रार्थ ऋतुकालमें शास्त्राज्ञानुसार भार्यागमन कर सकता है। उससे उसका ब्रह्मचर्य नष्ट न होगा। इस विषयमें पूर्वमें तुमको पूरी तरहसे समझादिया है। सो अब उस विषयमें विशेष कहने की आवश्यकता नहीँ है। योग साधन करते समय विन्दु रक्षा करना नितांत आवश्यक है। शास्त्रोक्त काल को छोड़ अन्य काल के मैथुन द्वारा विन्दु नष्ट

होता है। बिन्दु नष्ट होने से प्राण की चंचलता वृद्धि को प्राप्त होती है। प्राण के चंचल होने से मन भी चंचल होता है। तब फिर मनको निग्रह करने की सामर्थ्य नहीं रहती। मस्तिष्क की प्रधान शक्ति ही ओजस् शक्ति है। बिन्दु क्षय से यह ओजस् शक्ति नष्ट होती है और नाना प्रकार के स्नायुसंबंधी रोग द्वारा शरीर रोगी हो जाता है और अकाल मृत्यु होती है। बिन्दु के रहने से प्राणीगण जन्म ग्रहण करते हैं और बिन्दु क्षय से मृत्यु मुख में गिरते हैं। शिवसंहिता में लिखा है :—

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन कुरुते बिन्दुधारणं ॥

अर्थ—बिन्दुपात द्वारा मरण और बिन्दु धारण द्वारा जीवनरक्षा होती है। इसलिए सर्वप्रयत्न से बिन्दु धारण करना चाहिए।

शिष्य—गुरुदेव ! साधक को कौन २ द्रव्य खाना चाहिये। और कौन २ उसके लिए अपथ्य हैं सो कहिये।

गुरु—हे वत्स ! योग साधक के लिए पथ्यापथ्य कहते हैं सो सुनो।

पथ्य—जैसे शालि चावल (लाल चावल), जौ का आटा या सत्तू, गेहूँ का आटा या मैदा, मूँग की दाल, उड़द, चना यह सकल अन्न छिलका रहित और श्वेत वर्ण होना चाहिए। पटोल या पर्वल, कच्चा पनस (कटहर) मानकचू (एक प्रकार की घुइयां) खेसका या ककोडा, वदरी या बैर, करोंदा, ककडी, ऊमर या डूमर, कच्चा केला, बाल रंभा या छोटा केला, रंभादंड या केला वृक्षका गाभा, केला का फूल, मूली, बैगन, ये सब तरकारियां ; शाक या साग में पलता या परवल पत्ते, वथुआ,

चौराई, पुनर्नवा शाक (गदापुरैना या पत्थरचट्टा), नटिया शाक पालक खा सकते हैं पर इनमें से प्रथमोक्त चार शाग श्रेष्ठ हैं। योगारंभमें घृत वा दुग्ध व्यवहार करना उचित है। दूध बहुत परिमाण में लेना उचित नहीं है क्योंकि उससे शरीर में रसवृद्धि हो सकती है। एक व्यक्ति को एक बार में आधसेर दूध काफ़ी है। और २४ घंटे में एक सेर दूध अपनी २ पाचन शक्ति के अनुसार ले सकते हैं। रात्रि में दुग्ध पान करना प्रायः ठीक नहीं है।

भोजन करने से जिन वस्तुओं का परिपाक सहज में हो, जिनसे धातुपुष्टि हो, जो स्निग्ध (घीवाले) और प्रीति-जनक हों, ऐसे मनभाते द्रव्य भोजन करना योगी को कर्त्तव्य है। जो पदार्थ पचने में कठिन हों, जिनके खाने से पाप लगे, जो दुर्गंधयुक्त (जैसे प्याज, लहसुन इत्यादि) हों, जो अति उष्ण या अति शीतल हों, जो बासी या पूर्वदिन के पके हों और उग्र पदार्थ, ये योगी के खाने योग्य नहीं हैं। गुरुको छोड़ और किसी का भुक्तावशिष्ट (जूंठा या बचा) खाना भी उचित नहीं है। गृहस्थ को माता, पिता, दीक्षादाता ये तीनों गुरु के समान गिनना चाहिये। तो भी ज्ञान दाता गुरु ही सर्वश्रेष्ठ है। शक्तिसंचारक और ज्ञानदाता गुरु का उच्छिष्ट भोजन और पादोदक पीने से शक्ति बढ़ती है। जिसकी इच्छा से तुम में एक आध्यात्मिक शक्ति संचारित हुई है उसकी देह को एक शक्तिराशि का केन्द्र समझना चाहिये। देहयंत्र में उंगलियां ही शक्तिसंचार का प्रधान द्वार है। गुरु जो जो पदार्थ व्यवहार करें या आहार करें उनमें उनके शरीर से उंगलियों के द्वारा एक विशुद्ध तडित्शक्ति संचारित होती है। इसलिए गुरु का बचा भोजन और पादोदक ग्रहण करने की विधि है। श्रीजाबालदर्शनोपनिषद् में लिखा है :—

ज्ञानयोगपराणां तु पादप्रक्षालितं जलम् ।
भावशुद्ध्यर्थमज्ञानां तत्तीर्थं मुनिपुंगव ॥४६॥ खण्ड ४

अर्थ—हे मुनिश्रेष्ठ! ज्ञानी लोगोंका पादप्रक्षालित जल अज्ञानियों के लिए भावशुद्धिकारक होता है इसलिए वह तीर्थस्वरूप है। स्त्री लोगोंके लिए उनका पति ही उनका गुरु है। और सास श्वसुर गुरु तुल्य हैं। इसलिए उनका उच्छिष्ट भोजन करना और पादोदक पान करना स्त्री के लिए परम श्रेष्ठ है।

शिष्य—भगवन् आपके उपदेश से मैंने समझा कि योगी लोगों को राजसिक और तामसिक आहार त्यागकर केवल सात्विक आहार ग्रहण करना चाहिये। अब मैं जानना चाहता हूं कि आपका विचार आमिष (मांसाहार) के विषय में क्या है?

गुरु—हे वत्स! जब योगियों को सात्विक भोजन करना कर्तव्य है तब साधारणतः आमिषाहार (मांसाहार) का त्याग करना उचित है क्योंकि उससे रज और तमोगुण की वृद्धि होती है। इसलिए शरीररक्षार्थ और आरोग्यता के लिए यदि किसी चिकित्सक की व्यवस्थानुसार आमिष व्यवहार करना अतिआवश्यक हो तो यथा विधान उसका आहार किया जा सकता है।

"धर्मार्थकाममोक्षाणां आरोग्यं मूलमुत्तमम् ।"

(धर्मबल, अर्थबल, कामबल, मोक्षबल इन सबका मूल उत्तम आरोग्य ही है। शरीर और मन नीरोग वा स्वस्थ न होने से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष कुछ भी न सध सकेगा।

इसलिए सब प्रसङ्गों में स्वास्थ्यरक्षा कर्तव्य है। इस उद्देश्य से चिकित्सक के आदेशानुसार आमिषाहार किया

जा सकता है। पर जीभ की तृप्ति के लिए कहीं भी आमिषाहार की आज्ञा नहीं है। आमिषाहार से हिंसा दोष और तमोगुण की वृद्धि तो होवेगीही चाहे जिस अवस्था में लिया जावे। केवल आमिष ही नहीं, मङ्गल चाहनेवाला किसी भी पदार्थ को लोभ में पड़कर न खावे।

सर्वदा अपने शारीरिक और मानसिक कल्याण पर लक्ष्य रख कर योग्य आहार ग्रहण करे। आमिष आहार करने से जीवहिंसा होती है यह भी विचार योग्य है। तब भी किसी पुरुष की जीवन रक्षा द्वारा जगत् का अधिकतर मङ्गल सध सकता है केवल इसी विचार से ही साधु जन की जीवन रक्षा और आरोग्यार्थ आमिषाहार की इज़ाजत मानी जा सकती है। पर आरोग्यता प्राप्त होने पर यह आज्ञा नहीं मानी जा सकती। योगी और यति के लिए कतई मनाई है। भोजन में परिवर्त्तन सावधानी से करना चाहिये।

शिष्य—गुरुदेव! आपने अति भोजन का निषेध किया है। हमारा तो चिर अभ्यास है कि ठूंस ठूंस कर खाना। इस विषय में कोई नियम बताया जा सकता है क्या?

गुरु—हे वत्स! योगी को तो परिमित आहार करना ही उचित है। घेरण्ड संहिता में लिखा है:—

मिताहारं बिना यस्तु योगारम्भं तु कारयेत्।
नानारोगा भवेत्तस्य किञ्चित् योगो न सिध्यति॥

अर्थ—जो व्यक्ति परिमित आहार का नियम न कर योगारम्भ करते हैं उन्हें नानाप्रकार के रोग होते हैं और उनका योग थोड़ा भी सिद्ध नहीं होता।

श्रीमद्भगवद्गीता में लिखा है:—

नात्यश्नतस्तु योगोस्ति न चैकांतमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन । १६ अ० ६ ।

अर्थ—जो अति आहार करते हैं या जो बिलकुल नहीं खाते, या जो बहुत सोते हैं या बहुत ही जागते हैं उनका योग सिद्ध नहीं होता ।

हे पुत्र ! कितना आहारादि करने से योगसिद्धिलाभ होगा इस विषय में गीता में भगवान् ने अर्जुन को जो कहा है वह सुनोः—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा । १७ ।

अर्थ—जो परिमित आहार-विहारशील हैं सब कर्म्मों में भी परिमित चेष्टाशील हैं और परिमित निद्रा वा जागरणशील हैं उन्हीं का योग दुःखनिवारक होता है ।

शिष्य—परिमित आहार किसे कहते हैं सो हमको समझा दीजिये । हमने नाना प्रकार के प्रश्न द्वारा आपको नाराज किया है । साधना मार्ग में हम अज्ञ हैं इसलिए अति साधारण विषय में भी पूछना पड़ता है ।

गुरु—नहीं पुत्र ! तुम्हारे इन प्रश्नों को सुनकर हम ज़रा भी नाराज़ नहीं हुए हैं वरन् तुम्हारी योग विषय की जिज्ञासा देखकर हमें आनंद होता है । सामान्य विषय में भी तुमको शंका होने से बिना संकोच के हमसे पूछना । मन के सब संशय दूर कर सके सो ही तो गुरु है । हमारे पहिनने के कपड़े मैले होने पर धोबी को देने से वह खार आदि के द्वारा उन्हें साफ़ कर देता है वैसे ही मन में संशय उपस्थित होने पर

गुरु के निकट कह देना उचित है क्योंकि गुरु अपने उपदेश-रूपक्षार द्वारा मन के संशयरूप मल को दूर कर देगा।

अब तुम्हें मिताहार विषय में कहते हैं; सुनो! निर्मल, सुमधुर, स्निग्ध और सुरस भोजन मनमें निज इष्ट देवको अर्पण करके सन्तोष के साथ उस भोजन से अपना पेट आधा भरे और चतुर्थांश जल से पूर्ण करे। बाकीका चौथाई वायु के सञ्चार के लिए खाली छोड़े। मिताहार सम्बन्ध में एक यही बात ध्यान में रखनी चाहिये कि आहार कर चुकने पर यदि पेट कुछ खाली है और थोड़ा कुछ स्वतन्त्रता से खा सकते हैं ऐसा मन में बोध होवे वैसा ही आहार करना चाहिये। साधकको पेट भरके खाना उचित नहीं है। कारण उससे शरीर में जड़ता और आलस्य की वृद्धि होती है। वत्स! क्षुधा होने पर थोड़ा कुछ खा सकते हैं पर एकबार में अधिक खाना योगी को बिलकुल मना है। याद रखना कि आहार के शीघ्र पीछे और अति भूख लगने पर योग साधना न की जावे। अति भूख लगने पर कुछ बहुत थोड़ा खा कर साधना कर सकता है। भूखे पेट साधना करने से चित्त स्थिर नहीं होता; केवल विघ्न ही उत्पन्न होता है।

कबीर ने कहा है:—

> कबीर क्षुधा-कुकुड़ी करत भजन में भंग।
> याको टुकड़ा डार कर सुमिरण करो निःशंक॥

अर्थ—कबीर कहते हैं कि क्षुधा कुकुड़ी भजन साधन में विघ्न करती है उसे एक टुकड़ा खाने को डालकर निश्चिंत हो उसके (ईश्वर के) स्मरण मननादि में मग्न होओ।

हे वत्स! पिङ्गला नाड़ी में अर्थात् दक्षिण नाक में श्वास बहने के समय में योगी को आहार करना उचित है क्योंकि

पिङ्गला नाड़ी को सूर्य नाड़ी कहते हैं। इस स्वर के चलने पर इस देह रूप क्षुद्र ब्रह्माण्ड का दिन होता है। इड़ा नाड़ी चन्द्र नाड़ी है। जब प्राण वायु इस नाड़ी में बहता है तब इस देह रूप क्षुद्र ब्रह्माण्ड की रात्रि होती है। दिन अर्थात् पिङ्गला नाड़ी में प्राण के बहने पर आहार करने से शरीर में रस नहीं उत्पन्न हो पाता वरन् सहज में हज़म हो जाता है। रात्रि में अर्थात् इड़ा नाड़ी में वायु बहने के समय आहार करने से सहज पाचन नहीं होता वरन् शरीर में रस सञ्चार हो सकता है।

शिष्य—आहारके समय दक्षिण नासिकामें यदि श्वास न वहे तो क्या करना चाहिये।

गुरु—आहारके पूर्वही देखलेना चाहिये कि कौन नासिकामें श्वास चलती है। यदि वाम नासिकामें श्वास चलती है तो वाम वगलमें एक तकिया देकर वाम वाज़ूसे सो जाओ और वाम नासिकासे श्वास ग्रहण कर दक्षिण नासिकासे त्याग करो तो थोड़ी देरमें देखोगे कि तुम्हारी दक्षिण नासिकासे श्वास चलने लगेगा। अथवा वाम पांवकी जांघको खड़ी रख उसे वगलमें दवाकर वैठे और दक्षिण जांघ भूमिमें लगी रखकर और वाम करतल वाम पांवके नीचे दवाकर वैठना चाहिये और वाम नासिकासे वायुग्रहणकर दक्षिणसे धीरे २ त्यागना चाहिये इस प्रकार कुछ क्षणमें दक्षिण नासिकासे श्वास चलने लगेगा। और इससे फिर शीघ्र वाम नासामें प्रवाह न होगा। इसलिए इस आसनमें वैठकर आहार करना चाहिये। जब जल्दी है तो ऐसा करके स्वर वदल ले सकते हैं पर जब जल्दी नहीं है तो विना प्रयत्नके और स्वाभविक रीतिसे स्वर वदलेपर भोजन करना चाहिये।

शिष्य—गुरुदेव! आपने जो सब आहारादिक नियम बताये हैं उन्हें कितने दिन पालन करना पड़ेगा।

गुरु—हे वत्स! योगी और रोगी प्रायः समान हैं। जैसे रोगी शरीरके रोगग्रस्त होनेपर वैद्यके निकट आता है और वैद्यकी बताई औषध पथ्यादि द्वारा आरोग्य लाभ करके उसे फिर औषध पथ्यका प्रयोजन नहीं रहता; वैसे ही जो भवरोगसे ग्रस्त होकर गुरुरूपी वैद्यके निकट आता है उसे भी आरोग्यता न पातेतक गुरुकी बताई साधना और विधिनिषेधादि पालन करना पड़ता है। नियम पालन और साधना द्वारा विक्षिप्त (चञ्चल) मन की वृत्तिनिरोध हो चुकने पर, और उसके आत्मा में स्थित होने पर, तथा सब वस्तुओंमें एक अखंड चैतन्यकी अनुभूति हो चुकनेपर, फिर विशेष नियमपालनकी आवश्यकता नहीं रहती। जैसे भेड़ी, बकरी, गाय, भैंस आदि पशुगणके रहनेपर छोटे २ पौधोंकी रक्षा करनेको उनके आसपास कांटेसे घेरना पड़ता है, पर जब वे पौधे बड़े वृक्ष हो जाते हैं तो फिर उनके आसपास कांटे लगाने की आवश्यकता नहीं रहती; न पशुओंके रहनेपर भी उनसे उन्हें डर रहता हो, बल्कि उन वृक्षोंसे बड़े हाथीको भी बांध सकते हैं; वैसे ही योगद्वारा देह, मन, बुद्धि, और इन्द्रिय समूहके परे चैतन्य स्वरूप आत्माकी प्रत्यक्ष प्राप्ति द्वारा ज्ञानदृढ़ न होते तक सब नियमोंका अतियत्नसे पालन करना चाहिये नहीं तो सिद्धि लाभ की संभावना दूर हो जायगी। वत्स! जिसे इस जीवनमें ही योगजन्य ज्ञान प्राप्त करना है उसीके लिए ये सब आचार नियम कहे हैं। जिसने योगजन्य ज्ञान प्राप्तकर सिद्ध दशा प्राप्त करली है उसके लिए ये नियम नहीं हैं। और जो तमोगुण और मोहमें फँसकर मनमें संतुष्ट है उसके लिए भी नहीं हैं।

छठवाँ अध्याय

शिष्य—हे गुरु देव ! किस स्थान में, किस आसन में, और किस २ समय में, साधना करना ठीक है यह जानना चाहता हूँ। आप कृपापूर्वक यह मुझे समझा दीजिये। इस समय आपके उपदेशानुसार साधन करके आत्मस्थ होकर मैं अपने जीवन को धन्य मानूंगा।

गुरु—हे वत्स ! साधनाघर और दूसरे घरों से अलग हो तो अच्छा होगा। इस घर में दुनियादारी की बातें (जिनमें ईश्वर तत्व नहीं है) न करनी चाहिये क्योंकि उनसे घरकी विशुद्धता नष्ट होती है। इसी कारण से हमारे पूर्व पुरुष ठाकुरघर और उपासनामंदिर अलग रखने की व्यवस्था कर गये हैं। साधना मंदिर को गोबर से लीपकर वहां धूप जलाना चाहिये; उससे गृहस्थित दूषित वायु और प्रभाव नष्ट होंगे और मन में प्रफुल्लता जन्मेगी। गृह को अपने गुरुदेव और वुद्ध, शंकराचार्य, श्रीचैतन्य, तैलंगस्वामी, रामकृष्ण परमहंस आदि मुक्त महापुरुषों के चित्रों से सुसज्जित करना चाहिये। ऐसे सिद्ध महापुरुषों के चित्र दर्शन करने से उनके ईश्वरप्राप्ति में आग्रह, त्याग, और वैराग्यादि का स्मरण होता है, जिससे अपने मन में साधना के लिए प्रवल उत्साह उत्पन्न होता है। इन महात्मओं के वैराग्य भाव में मग्न होने से उनके ध्यान से चित्त स्थिर हो जाता है। पातंजल योगसूत्र में लिखा है कि

वीतरागविषयं वा चित्तम्।

अर्थ—जिसका चित्त वीतराग (अर्थात् संसार की आसक्ति से शून्य) है ऐसे मुक्त महापुरुष के वैराग्ययुक्त चित्त में समाहित होने से चित्त स्थितिपद लाभ करता है।

हे वत्स ! साधन गृह कीं पवित्रता रक्षा करने के विषय में तुम्हें विशेष प्रयत्नशील रहना चाहिये। कुछ काल ऐसा करने से उसकी उपकारिता अच्छी तरह समझ पडेगी। देखो ठाकुरघर की पवित्रता रक्षित होने से और उसमें ठाकुर पूजा और ध्यानादि के सिवाय कोई दुनियादारी की बात या काम वहां न होने से वह घर एक आध्यात्मिक शक्ति से भर जाता है ; उसमें प्रवेश करते ही ठाकुर के भाव में मन आप से आप आजाता है। ऐसे साधन घर में मन एक आध्यात्मिक शक्ति से पूर्ण हो जाता है। वहां प्रवेश करते ही बाहर की मानसिक चंचलता और दुश्चिन्ता दूर होकर नाम स्मरण का प्रवाह चलने लगेगा और शीघ्र ही सकल चंचलता और दुश्चिता से मुक्त होकर चित्त प्रसन्न और शांत हो जायगा। जिस स्थान में बैठ योगी योग साधन वा ब्रह्मविद्या अध्ययन या चिन्तन करेगा वही स्थान उसके देह के निर्मल तेज संस्पर्श से पवित्र भाव धारण करेगा। इसलिए बहुत दिन के पीछे वह स्थान साधारण अज्ञानी मनुष्य के लिए एक तीर्थस्थान हो जायगा। हमारे तीर्थस्थान जीवन्मुक्त ऋषियों के तपस्या स्थान के सिवाय और कुछ नहीं हैं।

शिष्य—गुरुदेव ! जिसके पास स्वतन्त्र साधन घर नहीं है और जो उसे शीघ्र प्राप्त करने योग्य नहीं है उसे क्या करना चाहिये ?

गुरु—वत्स, उसे अपनी सुविधा के अनुसार स्थान बना लेना चाहिये और साधनाकाल में उसमें अन्य किसी को

आने नहीं देना चाहिये। उस स्थान में गुरुदेव का फोटो और चित्रादि रखने से, और साधना में बैठने के पूर्व धूप जलाने से लाभ होगा। साधन घर में अकेले जाकर गुरु के बताये अनुसार साधन करना चाहिये।

वत्स! अब कैसे आसनपर बैठकर साधना करनी चाहिये यह बताता हूँ। भूमिपर कुशासन (उसके अभाव में घासकी बनी चटाई); उसके ऊपर मृगचर्म, उसके ऊपर वस्त्रासन बिछाना चाहिये। आसन न अधिक ऊंचा हो न अधिक नीचा। जिस आसनपर बैठकर साधन करते हैं उसपर किसी और को नहीं बैठने देना चाहिये। उस आसनपर बैठकर साधना और मोक्ष शास्त्रादि के अध्ययन के सिवाय और कोई अन्य कार्य वा किसी अन्य के साथ दुनियादारी की बात भी न करनी चाहिये। इन बातों के पालन करने से आसन की पवित्रता भी रक्षित होवेगी।

प्रातः, मध्यान्ह, सायं और अर्द्ध रात बीते, इन सब समयों में साधना करनी चाहिये। साधना के लिए ये चार उत्तम काल हैं। इन चार कालों में साधना का अभ्यास करने से कुछ काल में तुम्हें समझ पड़ेगा कि तुम्हारे शरीर में नाम प्रवाह घड़ी के कांटे की चाल के समान निरन्तर आपसे आप होता है। तब तुम्हें मालूम होगा कि भगवान का नाम सर्वदा स्मरण न होने से और तुम्हारे विषयान्तर में लिप्त होने से निर्दिष्ट समय आने पर तुम्हारा अभ्यास ही तुमको नाम स्मरण करा देवेगा और यही साधना शक्ति प्रबल भाव से साधना की ओर खींच ले जावेगी। उस समय साधना में प्रवृत्त होने से तुम्हें शान्ति और आनन्द प्राप्त होवेंगे। नये साधक को इन चार समयों में साधना करना अति आवश्यक है।

जो सांसारिक कार्यों के कारण मध्यान्ह में साधना में बैठ नहीं सकता उसे बाकी की तीन बेलाओं में साधना के लिए अवश्य बैठना चाहिये।

शिष्य—बाबा! आपने जैसे पवित्र स्थान और आसन की बात कही है वैसे ही स्थान और आसन की बात भगवान् ने भी अर्जुन को गीता में अध्याय ६ में कही है:—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

अर्थ—अति उच्च नहीं, अति नीच नहीं, ऐसा स्थिर आसन पवित्र स्थानमें स्थापन करना चाहिये—प्रथम एक कुशासन, उसके ऊपर मृगचर्म, उसके ऊपर वस्त्र रखना चाहिये। ऐसा आसन बनाकर उसपर बैठ मनको सब विषयोंसे खींचकर, एकाग्र कर, चित्त और इन्द्रियोंको जीतकर, अक्रिय हो अन्तःकरण की शुद्धिके लिए योगाभ्यास करे।

गुरुदेव! श्री भगवानने कुशासन और मृगचर्मादि की बात क्यों कही है सो जानने को इच्छा होती है। ऐसा जान पड़ता है कि इसमें कोई विज्ञान को बात छिपी है।

गुरु—हां वत्स! इसमें विज्ञान शास्त्रका रहस्य है। साधनाके समयमें मनके संयम होनेके कारण तडित् प्रवाह होने लगता है। पृथिवी और धातु सबमें बिजली बह जा सकती है पर कुशासन और मृगचर्मादि में से बिजलीका प्रवाह नहीं हो सकता। शरीरकी तडित् बाहर बह जानेसे शरीरकी विशुद्धता नष्ट होती है। इसलिए तडित्-प्रवाह

रोकनेवाले कुशासनादि की व्यवस्था की गई है। केवल धरतीके ऊपर या लौहादि धातुमय स्थानके उपर वैठकर साधना करना मना है।

शिष्य—गुरुदेव ! आपका उपदेश सुनकर मनमें विचार आता है कि हमारे आर्य ऋषिगण जो सव विधियां वना गये हैं वे सव विज्ञान सम्मत हैं। हमारी क्षुद्र वुद्धिके कारण हम उन ऋषिगणोंके उपदेशका तात्पर्य नहीं समझ सकते और अनेक समयमें उनकी व्यवस्थाओंमें दोष निकालते हैं। पाश्चात्य दर्शनोंमें इन वातोंका प्रमाण न मिलने तक हमें अपने शास्त्रवाक्योंमें विश्वास नहीं होता। ऋषियों के चलाये सत्य समूहको स्वयं परीक्षाकर देखने की हमारी प्रवृत्ति नहीं होती; अथवा हमारी वुद्धिमें उतनी योग्यता नहीं है। इस कारण तव तक दूसरों की वुद्धि पर अवलंवन करना पड़ेगा। आजकल अनेक पाश्चात्य विज्ञान और दर्शनोंके ज्ञान द्वारा ये सव वातें विश्वास योग्य वन गई हैं। यही भरोसे की वात है। अव निवेदन है कि किस भावसे वैठकर साधना करनी चाहिये सो आप उपदेश दीजिये।

गुरु—हे वत्स ! तुम्हारी यही साधना जाग्रत साधना अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभूति देनेवाली साधना है। इस साधना में किसी प्रकारके सहकारी आसनादि के प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार वैठनेसे शरीरमें आराम मालूम पड़े वही "आसन" है। कायक्लेशपूर्वक जोर करके पद्मासनादि करना आसन नहीं है।

स्थिरं सुखमासनम्। पातंजलयोगसूत्र। २—४६।

अर्थ—जिस प्रकार वैठनेसे स्थिरतासे और सुखसे वैठना होसके वही आसन है।

बैठने की प्रणाली को ही योगशास्त्र में आसन कहते हैं। चैारासी लक्ष योनि के जीव जिस २ प्रकार से बैठते हैं वे ही चैारासी लाख 'आसन' हैं। साधकों में जिसे जिस आसन से बैठने में अच्छा लगे वह उसी सुखकर आसन से बैठकर प्रथमतः निज गुरुमूर्त्ति का ध्यान करे। ध्यानद्वारा गुरु-मूर्त्ति अच्छी प्रकार से मन में उदय होवे तब इस मंत्र से गुरुदेव को प्रणाम करेः—

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिम्
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्वमस्यादिलक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतम्
भावातीतं त्रिगुण रहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥
गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥
अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरं ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

प्रणाम के अन्त में मन में यह पाठ करना चाहियेः—

मंत्रः सत्यं पूजा सत्यं सत्यं देवो निरंजनः ।
गुरुर्वाक्यं सदा सत्यं सत्यमेव परंपदं ॥

हे वत्स! श्रीगुरु को निराकार परब्रह्म का साकार विग्रह (मूर्ति) मानना चाहिये। श्रीगुरु ही हमारे प्रत्यक्ष देवता हैं। अन्य देवताओं की तो कल्पना करके ध्यान और पूजा करनी पड़ती है। वही शास्त्र में कहा हैः—

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजामूलं गुरोर्पदम् ।
मंत्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोःकृपा ॥

अनुमान के इष्ट के भजन की अपेक्षा प्रत्यक्ष का भजन ही

श्रेष्ठ है। एक मात्र गुरुध्यान और पूजा द्वारा ही अज्ञाननाशक ज्ञान लाभ हो सकता है। श्रुति में लिखा है:—

> दिव्यज्ञानोपदेष्टारं देशिकं परमेश्वरम्
> पूजयेत्परया भक्त्या तस्य ज्ञानफलं लभेत् ॥ ९७ ॥
> यथा गुरुस्तथैवेशो यथैवेशस्तथा गुरुः
> पूजनीयो महाभक्त्या न भेदो विद्यतेऽनयोः ॥ ९८ ॥
> योगशिखोपनिषद् ॥ अ० ५ ॥

अर्थ—जो दिव्य ज्ञान का उपदेश करें वैसे गुरुकी परमेश्वर के भाव से पूरी भक्ति से पूजा करनी चाहिये। उसमें साधक को उस गुरु के ज्ञान का फल लाभ होगा। गुरु ही ईश्वर, ईश्वर ही गुरु, इसलिए गुरु को ईश्वर जान के पूर्ण भक्ति के सहित पूजा करनी चाहिये। गुरु और ईश्वर में भेद नहीं है। श्वेताश्वतर उपनिषद्, अध्याय ६ में लिखा है:—

> यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
> तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ २३ ॥

अर्थ—जिसकी इष्ट देवतामें पराभक्ति है और जैसी देवतामें भक्ति है वैसीही गुरुमें भी है, उसी महात्माके निकट ये पूर्व-कथित आत्मतत्व प्रगट हो सकते हैं।

गुरुका ध्यान और प्रणामादिके पीछे गुरूपदेश अनुसार श्वासको उठानेके साथ २ गुरुदत्त-नाम जपका अभ्यास करो। तुम्हारा यही साधना विषयमें पुरुषार्थ है; उससे आगे जो कुछ होनेका है आपसे आप होगा। सिद्धिमार्गकी साधनामें और किसी चेष्टा या अभ्यासकी आवश्यकता नहीं है।* जप-

---

* मंत्र जप से ही सब कुछ हो जायगा ऐसा सिद्धयोग का कथन है। एक शिष्य मंत्र लेकर दूसरे दिन घर जाते समय रास्ते में जप

कालमें तुम्हारे अङ्ग प्रत्यंगादि जो कुछ करना चाहें उन्हें करने दो, उसमें कोई बाधा मत डालो। प्रतिदिन श्रद्धा और तीव्र उत्साह सहित गुरुके वाक्य अनुसार साधना करो। तीव्र-संवेगी साधकको समाधि लाभ और उसका फल अति शीघ्रतासे उपस्थित होंगे।

शिष्य—गुरुदेव ! 'श्वासके चढ़ने उतरनेके संग-संग जप अभ्यास' इसे और थोडी अच्छी तरह समझा दीजिये।

गुरु—वत्स ! हमारे श्वास छोड़ते समय "हं" पूर्वक और भीतर श्वास खीचते समय "सः" पूर्वक शब्द होता है। यही अजपाजप है। विना चेष्टाके जप होनेके कारण इस 'हंस' मंत्रको अजपा जप कहते हैं। हंस मंत्रका सूक्ष्मभाव ॐकार—ॐकारका सूक्ष्मभाव ही 'हंस' है। योगस्वरोदयमें लिखा है :—

प्रणवाज्जायते हंसो हंसः सोऽहंपरो भवेत्।
हकारः शम्भुरूपः स्यात् सकारः शक्तिरुच्यते ॥

करते २ लय की दशा को प्राप्त हो गया। घर में जाकर जप किया तो मेरुदण्ड में वंशनाल का सा अनुभव होता था; ठक ठक का भान होता था। मेरुदण्ड में नीचे उतरते और ऊपर चढ़ते २ प्राण भी छोटा हो गया था। तीसरे दिन जप करते २ शवासनमें लेटने से और कुम्भक करनेसे चेतना खो गई। दो घण्टे वाद चेतना आने पर ऐसा भान होता था कि ध्यान पर अभी बैठा हूँ। फिर गुरुदेव ने उस समय के लिए उस दिन अभ्यास वन्द करा दिया। शरीर तो मुर्दा सा सुस्त था पर जीव को बहुत आनन्द था। नाना प्रकार का गर्जन और अट्टहास, कभी हंसना कभी भाव समाधि, इनका अनुभव होता था। सब मधुमय दिखता था। फिर गुरु ने भोजन कराकर सुला दिया।

अर्थ—प्रणव (ॐकार) से हंसः मंत्र उत्पन्न होता है और 'हंसः' ही विपरीत भावसे 'सोऽहं' हो जाता है। हकार शिव और सकार शक्ति कहाता है।

इसी 'सोऽहं' में सकार और हकारका लोप हो जानेसे ॐ रह जाता है।

> हकारार्णं सकारार्णं लोपयित्वा ततः परम्।
> सन्धिं कुर्यात्ततः पश्चात् प्रणवोऽसौ महामनुः॥
>
> योगस्वरोदय

अर्थ—सकार और हकार वर्णलोप करके, उसके बाद संधि करनेसे महामंत्र प्रणव (ॐकार) बन जाता है।

अनाहत पद्म (हृदयचक्र) में शब्द ब्रह्म (ध्वनि) रूप ॐकार और आज्ञाचक्रके ऊपर वर्णब्रह्मरूप (अक्षर रूप) ॐकार हैं। साधनामें कुछ आगे बढ़नेपर इस ॐकारध्वनिका और वर्णरूपी ॐकारका अनुभव होता है। हे वत्स! जबतक अपनी देहमें वह अनुभव करनेकी योग्यता नहीं आई तबतक श्वास-त्यागकालमें हकारके स्थानमें और श्वास-ग्रहणकालमें सकारके स्थानमें तुम्हारे गुरुदत्त मंत्रका ही जप करो। जैसे तुम्हारा गुरुदत्त मंत्र 'राम' है तो हकारके स्थानमें 'राम' और सकारके स्थानमें राम अर्थात् श्वास और उछ्वासके साथ केवल 'राम' 'राम' ही जप करना चाहिये। सब जपोंके बीचमें श्वास-श्वासके साथका जपही श्रेष्ठ है। कबीर साहेब ने कहा है :—

> कबीर माला काठकी बहुत जन करि जोर।
> माला जोर स्वांसकी जामें गांठ नाहिं सुमेर॥

अर्थ—कबीर कहते हैं कि बहुत से लोग काठकी माला

का जपकर चुके हैं पर तुम वैसा न करो, जिसमें सुमेर की गांठ नहीं है ऐसी श्वास की माला का जप करो।

हे वत्स! सद्गुरु इस मनरूपी मालाजप का उपदेश देवेंगे। श्वासप्रश्वासरूपी गुरियासमूहवाली यह माला विना हाथ की सहायता के दिन रात्रि फेर सकते हैं। उसीसे भगवान् का नाम जप होगा।

शिष्य—गुरुदेव! जप के सङ्ग-सङ्ग क्या ध्यान भी करना होता है? कैसा ध्यान करना अच्छा होगा?

गुरु—वत्स! कल्पना करके किसी मूर्त्ति के ध्यान करने की आवश्यकता नहीँ है। जिसके नामका तुम स्मरण करते हो वे ही तुम्हारे देह में चैतन्यस्वरूप विराजमान हैं। वे ही तुम्हारी "हम, मैं" बुद्धि के आश्रयभूत चैतन्यस्वरूप आत्मा हैं। उन्हीँ की शाक्त लोग शक्तिरूप से, वैष्णव विष्णुरूप से, शैव शिवरूप से, सैार सूर्यरूप से, गाणपत्य गणपतिरूप से, और ज्ञानी ब्रह्मरूप से, उपासना करते हैं। जिस नाम से जो उन्हें पुकारे तुम यह जानो कि वह तुम्हारी देह स्थित चैतन्यरूपी आत्माको ही पुकारता है। अविद्या के कारण एक चैतन्य-सागर में जलतरङ्ग के समान नाना नाम और रूपादि दिख पड़ते हैं। सब नाम रूप के भीतर एक ही चैतन्यरूपी देवता विद्यमान हैं। गुरूपदिष्ट साधना द्वारा मन की चञ्चलता नाश होने पर आपसे आप ध्यान होने लगेगा। श्रुति में लिखा है, ध्यानं निर्विषयं मनः (निर्विषय मन ही ध्यानस्वरूप है।) जैसे लेन्सकांच में, जो वीच में मोटा और आसपास पतला होता है, सूर्य किरणें एकत्र हो अग्नि प्रज्ज्वलित करती हैं वैसे ही मन निर्विषय होने से उसमें ज्ञानाग्नि प्रगट होने पर चैतन्यरूपी देवता

का दर्शन करके साधक धन्य होता है। हे वत्स! सूर्य-किरणें तो सब स्थानों में गिरती हैं पर किसी वृक्ष या तृण को जला नहीं सकतीं परन्तु लेंस में गिरने से बहुतसी किरणें एक केन्द्र में इकट्ठी होने से उनमें जलाने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है और उस तृणको वे जला डालती हैं। लेंस का गुण सूर्यकिरणों को केन्द्री भूत करने का है। मन भी इसी प्रकार चारोंओर फैला हुआ है। उसमें अन्तरव्याप्त चैतन्यरूपी आत्मा का ज्ञान प्रकाश नहीं होता पर जब मन गुरूपदिष्ट उपायद्वारा एक स्थान में केन्द्रीभूत हो जावेगा तब आपसे आप ज्ञानज्योति जल उठेगी और अहंभावना या ममताभाव को नाश कर मनोवृत्ति का निरोध कर देवेगी। अहं भाव नाश होने से भगवान् के स्वरूप का दर्शन होगा।

हे वत्स! नाम में रुचि बढ़ने के लिए पूर्व में बताये चार समयों में साधना करने के सिवाय भी लगातार श्वास-श्वास में जप अभ्यास करना चाहिये। हंसते, बैठते, खाते, सोते, सर्वदा श्वास-श्वास में उसका नाम स्मरण करना चाहिये। ऐसा जप करते २ जब मन और प्राण एक हो जायंगे तब फिर अन्तर्यामी आपके अन्तर में छिपा नहीं रह सकता।

एक दोहा है :—

सुमिरण में मन लाइये जैसे कीट भिरंग।
कबीर विसारे आपको होजावे तेहि रंग॥

अर्थ—जैसे भृङ्गी का पकड़ा कीडा डरकर भृङ्गीकी चिन्ता निरंतर करता है और अन्त में भृङ्गी हो जाता है वैसे ही, हे कबीर, इष्टदेव का चिन्तन करते २ साधक अपनेको भूलकर उसीका रूप बन जाता है।

शिष्य—गुरुदेव ! कोई कोई कहते हैं कि किसी २ विशेष स्थान में (जैसे नाभिचक्र, हृदयपद्म अर्थात् हृदयस्थ अनाहत-चक्र, मस्तकस्थ ज्योति, भ्रूमध्य, इत्यादि देह के भीतर के विशेष २ स्थान) में मन रखकर जप करने से लाभ होता है। इनमें से किस स्थान में मन रखकर जप करना चाहिये सो हमें बताइये।

गुरु—हे वत्स ! तुमको किसी विशेष स्थान में मन रखकर जपादि करना आवश्यक नहीं है। केवल श्वास वायु के संग संग गुरु के उपदेश के अनुसार मनको रखो और जप करो। संचारित शक्ति जब जिस स्थान में प्राण को ले जावेगी मन भी उसी स्थान में चला जावेगा क्योंकि मन प्राण के संग २ चलता है। प्राण की क्रिया जब जिस चक्र में होगी मन उसी चक्र में अपने आपसे स्थिर होजायगा। इसप्रकार स्वभावतः मन जिस समय जिस स्थान में जायगा उसी स्थान में जप करना चाहिये। संचारित शक्ति ही देहाभ्यन्त-रस्थ गुरु है। यह जो कुछ तुमसे जिस समय करावे वही करते जाना तबही तुम्हें मंगल और शांति होगी। जबरदस्ती से कुछ नहीं करना, साधना करते जाओ। क्रमशः संचारित शक्ति की क्रिया देखकर आश्चर्यमय हो जाओगे। दो चार दिन में विशेष उपलब्धि प्राप्त न होने से हताश मत होना। विश्वास रखना कि गुरुशक्ति व्यर्थ न होगी।

शिष्य—हे पिता ! आपकी कृपा से हमें हताश और व्यस्त होने के लिए कोई कारण नहीं है। अभी इतने में ही जब भीतर एक शक्ति का खेल होता दिखता है; तब हृदय में विश्वास है कि नियमानुसार साधना करते जाने से क्रमशः उन्नति लाभ भी होगा। पर शरीर तो सब दिन अच्छा नहीं रहता, कभी कभी साधना में बैठते ही आलस्य का भान होता

है। मन भी जप में लगना नहीं चाहता। इस विघ्न के निवारण का क्या उपाय है?

गुरु—वत्स! साधनकाल में इस प्रकार चित्तविक्षेप करनेवाले विघ्नसमूह तो आवेंगे ही। पर उनसे देहके सुख का ख्याल करके परमार्थ नष्ट न करना। योग के अन्तराय नौ हैं. जैसे—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।

(पातंजलयोगसूत्र १—)

अर्थ—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रांतिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्व, ये नव योग के अन्तराय (विघ्न) हैं। धातु (शरीरके वात, पित्त, कफ), रस (खाये भोजन का परिणाम), और करण अर्थात् इन्द्रियसमूह इन सबकी स्वाभाविक अवस्था में कुछ न्यूनाधिक होने को 'व्याधि' या बीमारी कहते हैं। चित्तकी अकर्मण्यता को 'स्त्यान' कहते हैं। यह ऐसा है या नहीं है, यह उभयपक्षनिष्ट जो ज्ञान है उसको 'संशय' या शंका कहते हैं। समाधि के उपायों को न साधना इसे प्रमाद कहते हैं। देह और मन का भारीपन मिटाने के लिए जो प्रयत्न का अभाव है उसे आलस्य कहते हैं। चित्त की विषय प्राप्ति के लिए जो लालच रहती है वह अविरति या मन का विषयों से न हटना है। विपर्यय या उल्टे ज्ञान (एक वस्तु को दूसरी वस्तु समझना) को भ्रांति दर्शन कहते हैं। समाधि भूमिको प्राप्त न होना यह अलब्धभूमिकत्व है। समाधिभूमि लाभ करके उसमें ठहरने की शक्ति न रहने को 'अनवस्थितत्व' कहते हैं। समाधिभूमि लाभ करके यह अनवस्थितत्व दूर न होने तक समाधि सिद्धि हुई ऐसा नहीं कहा जा सकता।

साधना आरंभ करने के कितने दिन पीछे ही सर्दी, … को पीड़ा, अनिच्छा में भी वीर्यपात इत्यादि हो सकते … उनसे डरना नहीं चाहिये। ये सब सच्ची व्याधियां नहीं … इनके द्वारा शरीर के दूषित पदार्थ आदि बाहर आते हैं और शरीर नये प्रकार से गठित होता है। किसी के शरीर … यदि किसी व्याधि का बीज छिपा हुआ है वह भी जाग उठे … और कई दिन के भोग के पश्चात् बाहर निकल जायगा … आरंभ से ही इस प्रकार नाना व्याधियां उपस्थित होक… साधक को विघ्न उत्पादन करेंगी। किन्तु वत्स! सावधा… रहना; इस साधना द्वारा हमारा अनिष्ट होगा ऐसा सम… डरकर साधना छोड़ न देना। विघ्नसमूह के उपस्थि… होनेपर हताश न होकर बाहर की दृष्टि से नाभि पर लक्ष… रख कर दीर्घमात्रा में नामजप करना। विश्वसंहिता में … लिखा है।—

प्रणवं प्रजपेद्दीर्घं विघ्नानां नाशहेतवे।

अर्थ—इन सब योगविघ्नोंके नाश होनेके लिए दी… मात्रामें प्रणवका जप करना चाहिये।

हे वत्स! जिसे प्रणव लाभ न करे उसे विघ्ननाशा… निज २ इष्ट मंत्रही दीर्घ मात्रामें जप करना चाहिये। इ… प्रकार कुछ काल जप करनेसे शरीरको अच्छा लगेगा औ… मनमें साधना की इच्छा जाग उठेगी। तब फिर गु… पदिष्ट लक्ष्य (बताई क्रिया) में मन रखकर साधनादि कर… लगना चाहिये।

शिष्य—गुरुदेव! हमलोगोंमें देखा जाता है कि किसी … को प्रथम से ही शारीरिक हठ क्रियादि अर्थात् आसन, मु… और प्राणायाम और शरीरमें घूर्णा (डोलना, चक्कर) हो…

लगते हैं और किसीको शुरूसे ही आभ्यंतरिक कम्पका अनुभव होने लगता है; किसी २ को आरंभमें ये कुछ अनुभव नहीं होते; कई दिनकी साधनाके पीछे कुछ २ शारीरिक कम्पादिका अनुभव होता है। ऐसा होनेका कारण क्या है? शक्तिसंचार होनेसे सबमें एकसी ही क्रिया होनी क्या उचित नहीं है? बाबा, मैं बीच २ में आपसे अप्रासंगिक प्रश्न करके आपको नाराज़ करता हूँ, इस अबोध पुत्रको क्षमा करना।

गुरु—वत्स! तुम्हारा यह प्रश्न अप्रासंगिक कैसे होगा? तुमने तो अच्छा प्रश्न किया है। ऐसा सन्देह अनुभूति प्राप्तकरानेवाले साधनको प्राप्त साधक मात्र को हो सकता है। तुम्हारा सन्देह दूर करता हूँ। ध्यानपूर्वक सुनो।

जीवमात्रको जन्मके कारण पूर्वसंस्कार रहता है। सबके संस्कार एकसे नहीं होते। इसी कारण सबकी आकृति और प्रकृति भिन्न २ होती हैं। पूर्व संस्कार ही जीव मात्रको कर्ममें प्रवर्तित करता है। कर्मके संस्कार शुभ और अशुभ, दो प्रकारके होते हैं। गुरु की कृपा सब शिष्योंमें समान भावसे गिरनेपर भी, वह सूर्यकिरणवत् सबमें समान भावसे एकसा फल उत्पन्न नहीं करती। जैसे सूर्यकिरण सर्वत्र समान भावसे पतित होनेपर भी स्वच्छ कांच और जलमें उसका प्रकाश अधिक होता है वैसे ही पूर्वकृत शुभ कर्मके फलसे जिसका चित्त जितना निर्मल है उसमें पतित गुरुकृपा उसी परिमाणमें विकसित होगी। पूर्व शुभ संस्कारके वशसे ही साधक गुरुमें भक्ति और उसके उपदेशके प्रति श्रद्धा लाभ करता है। पूर्व संस्कारके वश ही साधकमें अधिकारका तारतम्य (सिलसिला) रहता है। यदि पूर्व संस्कार न होता तो सब समान अधिकारी

होते। इसलिए पिपीलिका गति (चींटी की चाल) वान गति, और पक्षिगतिके भेदसे शक्तिसंचारित शिष्य तीन प्रकारके होते हैं। सो विस्तारसे बताता हूँ, सुनो।

(१) जैसे पिपीलिका (चींटी) मन्द-मन्द गति द्वारा आगे बढ़ते बढ़ते अन्त में वृक्ष की नोंक का फल प्राप्त कर लेती है उसी प्रकार अधम अधिकारी शिष्य में शक्ति सञ्चारित होने से धीरे धीरे योग क्रियादि प्रकट होती हैं और समाधि लाभ भी क्रम से होता है। ऐसे शिष्य में शक्ति धीर भाव से खिलती है। इसलिए प्रथमतः उसे कुछ भी अनुभव नहीं होता परन्तु विश्वास और अध्यवसाय (लगातार प्रयत्न) के साथ गुरूपदिष्ट नाम साधना करते रहने से वह क्रमशः ही उसका फल दर्शन करके आश्चर्यमय और आनन्दित होगा।

(२) जैसे वन्दर एक शाखा से दूसरी शाखा को उल्लङ्घन करके अग्रसर होकर फल लाभ करता है वैसे ही मध्यम अधिकारी शिष्य में शक्ति सञ्चारित होकर वह स्पन्दनादि अच्छे अनुभव करता है और आगे नाना क्रियाएँ (आसन, मुद्रा प्राणायामादि) होती हैं और परिणाम में समाधिलाभ होता है।

(३) जैसे पक्षी उड़कर शीघ्र ही फल लाभ कर लेता है उसी समान उत्तम अधिकारी (पूर्व जन्म में भी साधना में अग्रसर हुआ) भी शक्ति सञ्चारित होने पर तीव्र भाव से कम्पादि का अनुभव करता है और शीघ्र ही इष्ट वस्तु के प्रति एकाग्रता लाभ कर समाधि अवस्था को प्राप्त होता है।

हे वत्स! मान लो कि जैसे तीन व्यक्ति पांव पांव कलकत्ता से काशी को रवाना हुए हैं, उनमें से एक जन लिलुआ आकर, दूसरा असंसौल आकर, तीसरा गया आकर सब सो गये हैं। जब ये तीन व्यक्ति तीन भिन्न २ स्थानों में जगेंगे तो तीनों एक स्थान से क्या रवाना हो सकते हैं?

शिष्य—नहीं प्रभु, यह कैसे संभव हो सकता है ?

गुरु—तो जैसे यह संभव नहीं है वैसे ही पूर्व जन्म में साधना मार्ग में जो जितनी दूर बढ़कर सोया पड़ा है इस जन्म में जागने पर वह अपनी साधना वहीं से आरम्भ करेगा। इसलिए गुरुकृपा से सोती शक्ति के जागने पर सब एक ही प्रकार का अनुभव नहीं करते।

शिष्य—गुरुदेव! कहीं २ देखा गया है कि कोई एक साधक आरंभ में तो साधना में बहुत आगे बढ़ जाता है और नाना प्रकार के अनुभव करता है; पर कितने दिन पीछे उसका उस साधना में उतना मन नहीं लगता, और वह विषय-चर्चा में बहुत मस्त हो जाता है। इसका क्या कारण है ?

गुरु—हे वत्स! सब एकही जीवनमें पूर्णता प्राप्त होवें ऐसा कोई नियम नहीं है। तुमको पूर्वमेंही बता चुके हैं कि श्रद्धावान् और तीव्रसंवेगी साधकको शीघ्रही समाधि और पराशांति लाभ होती हैं। इसलिए यदि उत्तम अधिकारी बननेका प्रयत्न न करोगे तो सिद्धि अति दूर रहेगी। भगवद्गीता में लिखा है :—

प्रयत्ना तमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः।
अनेक जन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ ४९ अ० ७

अर्थ—अतिशय यत्नशील योगी क्षीणपाप होकर अनेक जन्मोंमें उत्तरोत्तर शुभ संस्कार संचय पूर्वक उन्हीं शुभ संस्कारों के बलसे अच्छा सिद्ध अर्थात् तत्वदर्शी होकर प्रकृष्टगति अर्थात् मुक्तिको प्राप्त होता है।

हे वत्स! वर्तमान् जन्म ही जिसका अखीरी जन्म है उसीको सिद्धि निकट है। जो जितने जन्म पीछे है उसे उतना ही अधिक समय लगेगा, इसमें संदेह क्या है? इसी कारणसे साधकोंमें क्रिया और अनुभवकी विभिन्नता देखी जाती है।

सप्तम अध्याय

शिष्य—गुरुदेव ! कभी २ साधना के विषय में यह संशय होता है कि कुण्डलिनी जागरण तो दुर्लभ है वह सहज में कैसे संभव हो सकता है। तब फिर क्या यह कोई माया या जादू की विद्या है ? मन में ऐसा भाव आता है कि गुरुदेव शायद जादूगर (hypnotist) होवें।

गुरु—वत्स दुर्लभ वस्तु के सहज में लाभ होनेसे योगवाशिष्ठ में जैसे मणिकांच उपाख्यान है वैसा होता है। उस उपाख्यान को कहते हैं, सुनो।

एक वार एक ब्राह्मण ने चिन्तामणि प्राप्त करने के लिए तपस्या आरम्भ की। भगवत्कृपा से थोड़े समय की तपस्या से अमूल्य चिन्तामणि उसके सामने उपस्थित हुई। ब्राह्मण उसे देख यह सोचने लगा कि यह क्या सच्ची चिन्तामणि है ? हमने अभी क्या तपस्या की है जो ऐसी चिन्तामणि हमको प्राप्त हो सके ? ठहरो, इसे रहने दो। इसे छूने का काम नहीं है ; क्योंकि छूने से मेरे मन्द भाग्य से वह कदापि काँच बन जावे। इस प्रकार नाना तर्कों और विचारों के पश्चात् उस ब्राह्मण ने यह निश्चय किया कि यह किसी प्रकार से चिन्तामणि नहीं हो सकती। यदि चिन्तामणि होती तो इतनी सरलता से कैसे मिल जाती। हमें इसका प्रयोजन नहीं है। ऐसा सोच ब्राह्मण फिर ध्यानस्थ हो गया और इधर चिन्तामणि भी अपने स्थान को चली गई। ब्राह्मण ध्यान में मग्न था कि इस समय में एक दिन लड़कों ने खेलते खेलते एक कांच का टुकड़ा उसके पास फेंक दिया। ध्यान के

अन्त में उस ब्राह्मण ने उसे देख मनमें विचार किया कि हाँ, इतने दिन में हमारी तपस्या अब सार्थक हुई; जो हम चाहते थे सो भगवान की कृपा से अब मिली। यह विचार कर ब्राह्मण ने उस काँच को उठा लिया और अपने घर चला गया। वह हतभाग्य काँच को पाकर चिन्तामणि के भ्रम में महा आनन्दित हुआ। उसने समझा कि चिन्तामणि से मेरी सब आवश्यकताएं पूरी होवेंगी; सो वह अपनी सब सम्पत्ति बेचकर दूरदेश को चला गया। फिर उसकी दुर्दशा की सीमा न रही। उसे मालूम हुआ कि इस काँच से हमारी कोई भी आवश्यकता पूरी नहीं होती। तब उसे निश्चय हुआ कि यह अर्थ निवारण करनेवाली चिन्तामणि नहीं है, बेकाम काँच है। हे वत्स! दुर्लभ वस्तु सहल में पाकर मनमें ऐसा संशय होता है। हृदयरूपी कसौटी में परख कर देखो कि तुम्हें सोना मिला है या पीतल। परीक्षा करके देखना कि चिन्तामणि मिली है या काँच मिला है। जो मिला है उसकी साधना करके देखो कि गुरुवाक्य और शास्त्रवाक्य के साथ तुम्हारी निज अनुभूति मिलती है कि नहीं। हे वत्स! तुमको पूर्व में दूसरे अध्याय में बताया है "कि यदि गुरुवाक्य शास्त्रवाक्य और निज अनुभव ये तीनों एक से मिल जावें तो फिर तत्व के सम्बन्ध में और कोई संशय नहीं हो सकता। इसलिए इस निश्चित अनुभूति-मूलक ज्ञान की सहायता से साधक सिद्धि प्राप्त कर सकता है।"

इस प्रकार शास्त्र और आप्त प्रमाण द्वारा संशय दूरकर नामसाधनामें मन को लगाना चाहिये। साधनामें श्रद्धा होनेपर गुरुमें भी श्रद्धा होगी और यदि गुरुमें श्रद्धा है तो साधनामें भी श्रद्धा होगी। गुरुके ऊपर संशय करना यह गिरने की जड़ है। कभी २ संशय रूप शैतान मित्रके रूपमें भी आकर

धोखा देकर श्रद्धाको ले भागता है और साधक को असहाय अवस्था में छोड़कर विषम दुर्दशा में ग्रस्त करता है। एक कथा कहते हैं, सुनो।

एक वार लंकायुद्ध के समय में विभीषणने किसी चारदिवाली से घिरे सुरक्षित स्थान में रामलक्ष्मण को रखकर, हनुमानको पहरापर नियुक्तकर दिया, और उनसे कहा कि इस चारदिवालीमें किसीको प्रवेश मत करने देना। इधर महीरावण पातालमें भद्रकालीको राम और लक्ष्मणका बलि देनेके लिए उनके ढूँढ़नेको वाहर निकला। उसे अनुसंधान करनेपर जान पड़ा कि इस सुरक्षित चारदिवालीमें राम और लक्ष्मण लुके हैं। तब उसने वृद्ध ब्राह्मणके वेषमें हनुमानके पास जाकर राम और लक्ष्मणकी मुलाकात करने की इच्छा उनसे प्रगट की और कहा कि आप हमें चारदिवालीके भीतर प्रवेश करने दें। पर हनुमान विभीषणकी आज्ञा विना किसीको भीतर नहीं जाने देते थे। तब महीरावणको कोई दूसरा उपाय न सूझा। वह रामचन्द्रजीके पिता दशरथ और माता कौशिल्याके वेश धारण करके हनुमानको धोखा देनेको उपस्थित हुआ। परन्तु ऐसे समयमें और ऐसे स्थानमें दशरथ और कौशल्याका आगमन असम्भव जानकर और विशेषकर विभीषणके वाक्यका स्मरण कर हनुमान द्वार खोलनेको राजी न हुए। तब महीरावणको और कोई उपाय बाकी न रहनेपर उसने विभीषणका रूप धारण किया और वह हनुमानके पास आया। हनुमानने उसे विभीषण जान, दरवाजा खोल दिया। और महीरावण सोते राम लक्ष्मणको लेकर भाग गया। उसके पीछे जब विभीषण राम और लक्ष्मणकी खबर लेने आये तो उनको दिख पड़ा कि राम-लक्ष्मणको महीरावण हर ले गया है। इसके आगे

रामलक्ष्मणका उद्धार करनेमें हनुमानको बहुत कठिनाई पड़ी। यहां इस कथाका तात्पर्य तुम समझे ?

शिष्य—जी हां, अच्छी तरह समझा। इस देहरूप चारदिवालोंके बीचमें श्रद्धा और भक्ति राम और लक्ष्मण हैं, साधक हनुमान हैं, गुरु विभीषण हैं और संशय महीरावण है। संशय ही साधकको धोखा देकर श्रद्धा और भक्तिको ले भागकर साधकको विषम दुर्दशामें और क्लेशमें डाल देता है। फिर जब वह अहैतुक कृपासिन्धु श्रीगुरु की कृपासे देखता है कि उसका सर्वस्व हरण हो गया है तब उसे अपना उद्धार करनेमें अनेक कठिनाइयां झेलनी पड़ती हैं। इसलिए संशय ही साधकका महाअनिष्टमूल है। यही साधकको सिद्धिके मार्गसे च्युत करता है। गीतामें हम पढ़ते हैं कि

> अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
> नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

अर्थ—अज्ञ अर्थात् अनात्मक, अश्रद्दधान अर्थात् गुरु और शास्त्र में श्रद्धाविहीन और संशयात्मा व्यक्ति विनाश को प्राप्त होता है अर्थात् अधोगति को प्राप्त होता है। (अज्ञ और श्रद्धाहीन व्यक्ति की अधोगति होनेसे ही उसका भ्रम दूर होकर उसकी उन्नति की आशा की जा सकती है; पर संशयात्मा सबसे अधिक पापिष्ट है। उसकी उन्नति की आशा बहुत दूर रहती है।) संशयात्मा व्यक्ति को यह लोक और परलोक कहीं भी सुख नहीं है।

गुरु—हे वत्स! तो देखो कि संशय कितनी भयानक वस्तु है। साधक को संशय रखना ठीक नहीं है।

शिष्य—हे पिता! आप आशीर्वाद दीजिये कि जिससे संशयरूप पाप हृदय में अब न आवे।

गुरु—हे पुत्र ! तुम जो हमारी बात का तात्पर्य समझे हो यह बड़े सन्तोष की बात है। सबके हृदय में सर्वदा ऐसे प्रश्न उठेंगे। गुरुके निकट कोई बात पूछने में संकोच करने से ज्ञान प्राप्ति नहीँ हो सकती।

शिष्य—गुरुदेव ! दीक्षा के समय में जप करते २ मन में एकाग्रता तो अच्छी हो गई थी पर अब मन में बड़ी चञ्चलता है। यह चञ्चलता कैसे निकले सो बताइये। इस चञ्चलता से बड़ी अशांति भोगनी पड़ती है।

गुरु—हे वत्स ! हमारे इस जन्म के और सैकड़ों पूर्व जन्मों के सब कर्मों के समुदाय का संस्कार मूलाधार में संचित रहता है। इस संचित क्रियाराशि की जो शक्ति है वही कुण्डलिनी शक्ति है। सात्विक, राजसिक और तामसिक भेद से यह संस्कार तीन प्रकार का है। संस्कार के कारण ही कुण्डलिनी शक्ति कुटिलाकृति (गोल या टेढ़ी) है। मन संस्कारों की राशि की डब्बी के समान है। जब कुण्डलिनी वक्रता (टेढ़ापन) छोड़ सीधी हो जाती है तब पानी में डूबा संस्कारसमूह पीड़ाप्राप्त मछली की नाईं ऊपर को उठ आता है। संस्कार के उठने से मन चञ्चल हो जाता है। संस्कारसमूह उठकर फिर विलीन हो जाने पर मन आप से आप शांत हो जाता है। जबतक मन शांत नहीँ होता अर्थात् जबतक मन की चंचलता दूर नहीँ होती तबतक "मन स्थिर नहीँ हुआ है" ऐसी वृथा चिंता करने से मन को और चंचल न करना चाहिये। लगातार परिश्रम और धैर्य के साथ साधन करते जाओ। समय आने से आप से आप मनभूत अवसर ग्रहण करेगा और चंचलता छोड़ कर स्थिरता को प्राप्त होगा। एक कथा कहते हैं सुनो।

किसी एक दिन कोई दरिद्र ब्राह्मणने विचारा कि भूतसिद्धि करके बहुतसा धन और सुख सौभाग्य प्राप्त करना चाहिये। ऐसा विचार कर वह एक भूतसिद्ध महापुरुषके शरणागत हुआ। उन भूतसिद्ध महापुरुषने कहा कि भूतकी सहायतासे जैसे यहां का अभीष्ट सिद्ध होता है वैसे ही उससे बड़े अनर्थ की संभावना भी रहती है। ऐसा कह उन भूतसिद्ध महापुरुषने उस दरिद्र ब्राह्मणको अपना संकल्प छोड़नेके लिए सलाह दी। पर उसने न मानी। उस ब्राह्मण का अति आग्रह देखकर महापुरुषने उसे भूतमंत्र की दीक्षा दी और साधनाका उपाय बता दिया। गुरूपदेश अनुसार कई दिन साधना करनेपर एक दिन अचानक एक भूत भयंकर रूप धारणकर ब्राह्मणके निकट उपस्थित हुआ और बोला कि हमको क्यों बुलाया है, शीघ्र बोलो। ब्राह्मणने कहा, "हमारे निकट तुम दासभावसे रहकर जो हम कहें उसे बिना विचारे पालन करना। भूतने कहा, महाशय, जो आप कहते हैं वह मुझे मंजूर है; पर आपको मेरी एक शर्त मंजूर करनी पड़ेगी कि आप मुझे एक क्षण भी खाली न बैठालें। जिस क्षण आप मुझको काम करनेको न देवेंगे उसी क्षण मैं अपनी दी हुई द्रव्यसामग्री नाश कर दूंगा और आपका भी विनाश कर दूंगा। देखो, ये शर्त आपको मंजूर है या नहीं। ब्राह्मणने कहा, "अरे भाई! हमारा कितना काम है, सारे जीवनभर काम किया पर उसका अंत न हुआ। अब अधिक बातचीत की आवश्यकता नहीं है; तुम्हारी शर्त मंजूर है; अब तुम काम करने लगो"। आदेश पाते ही भूतने एक सुरम्य अटाली और एक बड़ा तालाब तैयार कर दिया। वह छः मासका काम एक मुहूर्तमें पूरा कर देता था। ब्राह्मणने सोचा, "अच्छा!

हमारा मकान तो महल सरीखा होगया पर धन बिना तो कुछ नहीं होगा" उसने उसी क्षण उस भूतको काफ़ी धन लानेका आदेश दिया। आज्ञा पाते ही भूतने क्षण मात्रमें धन की राशि लगा दी। इस प्रकार थोड़े समयमें भूतने ब्राह्मणके इस लोकके सब अभाव पूरे कर दिये। फिर भूत और काज पूरे करनेको मांगता था पर ब्राह्मण कोई काज बता न सका। तब भूतने कहा कि अब ठहराई शर्तके अनुसार हम तुम्हारा सर्वस्वनाश करेंगे और तुमको भी नष्ट करेंगे। ब्राह्मणने भूतको क्रोधभरे नेत्रों सहित अपने तरफ आते देख भागना शुरू किया और भूत भी ब्राह्मण के पीछे दौड़ा। ब्राह्मण हांफता हांफता अपने गुरु के पास जाकर हाथ जोड़कर निवेदन करने लगा कि "प्रभो! रक्षा करो, रक्षा करो, नहीं तो भूतके हाथसे मेरा प्राण जायगा ऐसा जान पड़ता है"। शिष्य की दुःख भरी वाणी सुनकर गुरुने कहा, "हे वत्स भय नहीं है शांत होओ। हमने तो तुमको पूर्व में ही कह दिया था कि भूतसिद्धि से महा अनर्थकी संभावना है। खैर, अब तुम घर जाकर अपने आंगनके बीचमें एक बांस गाड़ो और भूतको एकबार बांसके ऊपर चढ़नेको और फिर नीचे उतरने को, ऐसा निरंतर करते रहनेकी आज्ञा देना। ऐसा करनेसे यह दुष्ट भूत चिरकालमें थक जायगा और तुम्हारा कोई अनिष्ट न कर सकेगा"। ब्राह्मणने गुरुका आदेश सुनकर, प्रसन्न होकर घर आकर, जैसा गुरुने बताया था वैसा किया और भूतभी केवल बांसके उपर चढ़ना और नीचे उतरना करने लगा। अंतमें वह विना विश्रामके एक ही काम करते २ थककर गिर गया और ब्राह्मणसे बोला, हे प्रभो! अब हमको छुट्टी दीजिये, हमने जो जो आपको दिया है सब आपका ही रहेगा

और हम आपका अब कोई अनिष्ट न करेंगे। ब्राह्मणने भूतकी बात सुनकर प्रसन्न हो भूतको छुट्टी दे दी और तबसे फिर निःशङ्क मनसे और सुखसे काल बिताने लगा।

हे वत्स! हमारा मन भी इस भूतके समान है, संकल्प द्वारा कहीं तोड़ता है, कहीं गढ़ता है; वह एक मुहूर्त भी स्थिर नहीं रह सकता। उसे हमेशा कोई न कोई व्यापार चाहिये। जैसे अग्निका स्वभाव उष्णता है वैसे ही मनका स्वभाव चंचलता है। चंचलता के वश से ही उसमें संकल्प और विकल्प, और उन दोनोंके कारण, कर्म होते हैं। मन निःसंकल्प होकर क्षण कालके लिए भी नहीं ठहर सकता। इसलिए जब साधक सर्वकर्म त्यागकर इष्टचिंतन करता बैठता है, उसी क्षण ही मनभूत कर्म के अभाव में नाना संकल्प-विकल्प द्वारा साधक पर आक्रमण करता है और क्षणमात्रमें उसे अपदार्थ (नाचीज़) कर देता है। हे वत्स! मन-भूत को दमन करने के लिए सदा एकतत्त्व का अभ्यास करना चाहिये।* साधक के देहरूपगृह में बांस की लकड़ी के समान सुषुम्णा नाड़ी है। गुरूपदेशानुसार सदा मनभूत को सुषुम्णा नाड़ी के नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे को अर्थात् मूलाधार और सहस्रार के बीच में चढ़ाने और उतारने से वह आप से आप छुट्टी मांगेगा—सर्वदा संकल्प रहित रहेगा। कल्पनाराहित्य ही चित्तनाश है। चित्त के नाश होने पर चित्का प्रकाश अर्थात् आत्मानुभूति उत्पन्न होती है। इसलिए संकल्परूपी चित्त के नाश को ही मोक्ष कहते हैं। †

---

* तत्प्रतिषेधार्थं एकतत्त्वाभ्यासः (पातंजल योगसूत्र १-३२)

† संकल्पनाश एव मोक्षः। (योगवाशिष्ठ रामायण)

हे वत्स—तुमको पूर्व में बता दिया है कि मन को स्थिर करने की चिंता कर मन को और अधिक अस्थिर न बना देना। केवल गुरूपदेशानुसार साधन करते जाओ—कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है, कर्मफल में नहीं। तुम देखोगे कि इस स्वाभाविक सहज योग द्वारा मनभूत अपने से ही स्थिर होकर क्रमसे मर जायगा।

शिष्य—गुरुदेव! यह किस्सा बड़ा सुन्दर है। वास्तव में मनरूपी भूत को लेकर हम बहुत मुसीबत में पड़े हैं। अगर आपके अनुग्रह से अब उसका दमन हो जावे तो ठीक, नहीं तो हमसे कुछ भी न सध सकेगा।

गुरु—हे वत्स! अनुग्रह वस्तु क्या है सो तुम समझे? 'अनु' शब्द का अर्थ है पश्चात्, पीछे, और ग्रह शब्द का अर्थ है ग्रहण—अनुग्रह शब्दका अर्थ हुआ पश्चात् ग्रहण। श्रीगुरु के मुख से निकले उपदेश को सुनकर उसके अनुसार कार्य करने ही से तो अनुग्रह लाभ होगा। गुरुदत्त नामरूपी प्राण डोर की गिर्री घुमाओ तो मनरूपी पतंग या गुड्डी आपसे हाथ में आजायगी। गिर्री हाथ में रहने से फिर दूर की पतंग को हाथ में लाने के लिए कौन व्याकुल होता है, समझे?

शिष्य—हां गुरुदेव, मैं अच्छीतरह समझा। हमारा मन पतंग के समान इधर उधर डोलता है। मनपतंग की डोर प्राण है अर्थात् मन प्राणसूत्र में बंधा है। गुरुदत्त शक्ति भरा मंत्र डोर की गिर्री के समान है। गिर्री घुमाने से जैसे डोर लपेटने के साथ २ पतंग भी क्रमशः पास आकर हाथ में आजाता है वैसे ही गुरुदत्त शक्ति भरे मंत्र के जपने से प्राणसंयम के साथ-साथ हमारा मन भी क्रमशः हमारे वश में आजावेगा। तो जितनी अधिक गिर्री घुमाओगे

उतनी ही अधिक शीघ्र पतंग भी हाथ में आवेगी। जो जितने अधिक समय साधना करेगा उसको उतने शीघ्र फल लाभ होगा। जो दिनरात आठों प्रहर श्वास-प्रश्वास के संग नामजप कर सकेंगे उनको अति शीघ्र फल लाभ होगा।

गुरु—हां वत्स! ठीक समझे। तुम्हारी बुद्धि देख अत्यंत आनंद होता है। हम आशीर्वाद देते हैं कि तुम शीघ्र ही सिद्धमनोरथ होओ!

शिष्य—हे पिता! आपका आशीर्वाद ही इस अधम के सौभाग्य का कारण होगा इसमें सन्देह नहीं है। अब एक बात की और जिज्ञासा है कि सब दिन एकसी साधना क्यों नहीं होती? किसी दिन थोड़े समय में ही साधना अच्छी जम जाती है; और बड़ा आनंद होता है; और किसी दिन ऐसा नहीं होता, इसका क्या कारण है?

गुरु—मानसिक और शारीरिक अवस्थाएं सब दिन एकसी नहीं रहतीं। इसीलिए सबदिन साधना एकसी नहीं होती। जबतक आत्मतत्व में स्थितिलाभ नहीं होता तबतक अभ्यास में यह भेद होता रहेगा। एक दिन में कोई चलना सीखता नहीं है। वत्स! आनन्द और निरानन्द समान जानकर आशायुक्त चित्त से साधना करते जाओ; योग्य समय में निज आत्मा में पूर्ण शांतिलाभ होगा।

शिष्य—गुरुदेव! साधना आरंभ करने के कितने दिन पीछे शरीर क्षीण हो जाता है अथवा पूर्वापेक्षा शरीर काम करने का इच्छुक और स्फूर्त्तियुक्त मालूम पड़ता है। शरीर के ऐसे क्षीण होनेका क्या कारण है?

गुरु—जैसे वर्षा के ज़ल से मिट्टी नरम और गीली होकर कीचड़ होती है किन्तु सूर्य के ताप से वही मिट्टी सूख कर

संकुचित और कड़ी हो जाती है; ऐसे ही पृथ्वी और जल तत्व के रस और वात शरीर को पुष्ट रखते हैं पर प्राणरूप सूर्य के ताप से अर्थात् प्राणायाम से ये रस और वात दूर होते हैं और शरीर संकुचित अर्थात् कृश, दृढ़ और कर्मोपयोगी हो जाता है। शरीर की कृशता हठयोग का एक लक्षण है। इसलिए तुमने जिस अवस्था की बात कही है उससे हठयोग का एक लक्षण ही प्रगट होता है। वत्स! इस साधन से क्रमशः ही इस प्रकार हठ और अन्यान्य योगलक्षणसमूह प्रगट हो सकेंगे। रस और वात शरीर को अकर्मण्य बना रखते हैं किन्तु प्राणायाम द्वारा वे दूर होकर शरीर हलका और काममें उत्साही बन जाता है।

शिष्य—गुरुदेव! हठसिद्धि के और कौन लक्षण हैं सो जानने की इच्छा है, कृपा करके कहिये।

गुरु—वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले।
अरोगता विन्दुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम् ॥७८॥

हठयोग प्र० उ० २।

अर्थ—हठसिद्धि होने से शरीर कृश (दुबला), मुख प्रसन्न, नादका प्रगट होना, निर्मल नयन, रोग का अभाव, विन्दु का जय अर्थात् धातुक्षय का अभाव या वीर्यस्तंभन, देह की अग्निदीपन और नाड़ियों की शुद्धि ये लक्षण प्रगट होते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् अ० २ में लिखा है:—

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्टवंच।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमा वदन्ति ॥१३॥

अर्थ—योगतत्वज्ञगण कहते हैं कि योगके प्रथमकाल में शरीर में लघुता, अरोगता, लोभशून्यता, वर्ण (रंग) की उज्ज्वलता, वाक्य की स्पष्टता और माधुर्य, शरीर का गन्ध

शुभ, पेशाव पायखाना का कम हो जाना ये लक्षण होते हैं। (नाना प्रकार के शुभ गन्धों का भी अनुभव होता है) ।

शिष्य—गुरुदेव ! आपका उपदेश सुनकर मैं सन्तुष्ट हुआ। अब आपकी कृपा से साधन द्वारा जो-जो प्राप्ति हो सकी है उसे आपके निकट प्रकट करके उस सब विषय का कुछ उपदेश पाने की इच्छा करता हूँ।

गुरु— वत्स आज ठहरो। अब प्रायः संध्या हो गई है। अब अपनी २ उपासना करने को जाओ। कल तुम्हारी कथा सुनकर उसके विषय में जो कुछ कहना होगा वह तुमको कहूंगा।

अष्टम अध्याय

गुरु—हे वत्स ! आज तुम अपना सब अनुभव प्रगट करो और जो जो जाननेकी इच्छा हो उसे पूछ सकते हो। हम शास्त्र, प्रमाण और युक्ति द्वारा तुमको समझा देने की चेष्टा करेंगे। तुमको शुरू में कह दिया है कि यदि अपनी अनुभूति, गुरुवाक्य और शास्त्रवाक्य से मिल जावे तो अनुभूति संशय रहित है—और उस अनुभूति को देनेवाली साधना से शीघ्र ही आत्मोपलब्धि रूप सिद्धि प्राप्त हो सकेगी। साधक, गुरु, और शास्त्रकार ऋषि इन तीनों की अनुभूति जिस विषय में एक होवे वह निस्सन्देह सत्य है। अब तुम अपनी बात कहो।

शिष्य—आपकी कृपा से दीक्षा के समय हमको बहुत कम्पन का अनुभव हुआ। उस समय ऐसा मालूम पड़ता था कि शरीरके भीतर बिजली का प्रवाह खेल रहा है। उसके बाद एक दिन जब मैं बैठकर नामसाधन कर रहा था तब ऐसा मालूम होने लगा कि मूलाधार से सहस्रार पर्यन्त एक सूक्ष्म बांसनली के समान रन्ध्र है और उसके बीच में प्राण ऊपर चढ़ता और नीचे उतरता है। उस समय मन में एक आनन्द और शान्ति की अवस्था उत्पन्न हुई जिसे मैं भाषा में वर्णन नहीं कर सकता। उस समय प्राण-वायु नासिकाके भीतर नहीं चलता था। *

---

* कुण्डलिनी जागरण के अनुभव भिन्न २ होते हैं। एक व्यक्ति को ऐसा भान हुआ कि बरफ ब्रह्मदण्ड में चढ़ रहा है और शरीर शून्य होता जाता है। (२) कभी ऐसा भान होता है कि पीठ में आग लगी

गुरु—वत्स ! तुम्हारा पूर्व संस्कार अत्यन्त अच्छा है जिससे ऐसी उच्च अनुभूति इतने शीघ्र शीघ्र आती है। वांस की नली के समान जो अनुभव हुआ वह सुषुम्णा नाड़ी है उसके मध्य में अन्तर्मुखी प्राणशक्ति (कुण्डलिनी) का चढ़ना उतरना होता है इस कारण नासिका के भीतर का श्वास प्रश्वास मालूम नहीं पड़ता । योगशिखोपनिषद् में लिखा है किः—

यथा करी करेणैव पानीयं प्रपिबेत्सदा ॥ ११७ अ० १ ॥
सुषुम्णावज्रनालेन पवमानं ग्रसेत्तथा ॥ ११८ ॥

अर्थ—जैसे हाथी सदैव सूंड़ के द्वारा जलपान करता है वैसे ही योगी सुषुम्णाके भीतर की वज्रनाड़ी द्वारा प्राणवायु को ग्रहण करे । सुषुम्णा में इसी प्राणवायु के प्रवाह से वांस की नली में छेद करने के समान सुषुम्णामध्यस्थ तीन ग्रन्थियों का भेदन होता है । योगशिखोपनिषद् में लिखा है किः—

भिद्यन्ते ग्रन्थयो वंशे तप्तलोहशलाकया ॥ ११३ ॥
तथैव पृष्ठवंशः स्याद्ग्रन्थिभेदस्तु वायुना॥ ११४-अ० १ ॥

अर्थ—जैसे तप्तलोह शालाका द्वारा वांस की गांठों का भेदन किया जाता है वैसे ही प्राणवायु द्वारा पृष्ठ वांस (मेरुदण्ड) के मध्य की सुषुम्णा में स्थित तीन ग्रन्थियों का भेद होता है ।

गई है और उसकी आंच आती है। (३) कभी कुण्डलिनी सर्प के समान टेढ़ी गति से जाती मालूम पड़ती है। (४) कभी कुण्डलिनी मेंढकके समान कूंदकर बीच में कोई चक्र छोड़कर जाती है। (५) कभी शिर में ही चक्कर लगता है। (६) कभी कम्पन नहीं होता। एक को दस मिनट की समाधि में भी यह अनुभव आ गया था कि मैं ज्ञानभरा शून्य हूँ ।

शिष्य—पिता ! बड़े भाग्यसे आपके सरीखा सद्गुरुका लाभ हमको हुआ है और आपकी कृपासे ये सब अनुभव हमको होसके हैं। एक दिन साधना करते २ शरीर खूब डोलने लगा। और फिर भाव (भक्ति) की अवस्थामें नृत्यगीतादि होने लगे। ऐसा मालूम होता था जैसे मैंने खूब नशा किया हो।

गुरु—हे वत्स ! भक्त रामप्रसाद की शक्ति जागरण होने पर उसे भी इस डोलनेका अनुभव हुआ। उसने गाया है:—

दोले-दोले रे आनन्दमयी करालबदनी।
आमार हृत्कमल मंचे[1] दोले दिवस-रजनी॥
इडापिंगला नामा, सुषुम्नामनोरमा।
तार मध्ये नाचे श्यामा ब्रह्मसनातनी॥
आविर[2] कुंकुम पाय किवा शोभा हयछे ताय[3]।
कामादि मोह जाय हेरिले[4] अमनि[5]॥
जे देखेछे मायेर दोल सेपेयेछे[6] मायेर कोल[7]।
द्विज रामप्रसादेर बोल दोल मां भवानी॥

हे वत्स! रामप्रसाद एक दिन नामके नशामें हलते डोलते रास्तेसे जाते थे। रास्तेके किनारेपरसे एक व्यक्ति बोल उठा कि यह बहुत शराब पीकर मत गया है उसको सुनकर रामप्रसाद गा उठे :—

सुरापान करिने अमी, सुधाखाई जयकाली बोले।
मन-माताल मेतेछे आजि, मद माताले माताल बोले॥
गुरुदत्तगुड़लये, प्रवृत्ति मसला दिये
(अमार) ज्ञान शुंडिते चुयाय भाटी, पान करे मोर मन-माताल॥

---

१ झूला। २ अबीर। ३ उसमें। ४ देखनेपर। ५ इस प्रकार। ६ पाता है। ७ गोद।

मूल-मंत्र-यंत्र भरा, शोधन करिबले तारा (मां)
(राम) प्रसाद बले एमन सुराखेले चतुर्वर्ग मिले[८] ॥

देखो वत्स ! तुमने जो अनुभव आज किया है उसे कितने काल पूर्व भक्त रामप्रसाद्ने मां की कृपासे अनुभव कर पाया था। तुच्छ संसारकी आसक्ति छोड़कर वह भगवती मां के नाममें देहात्म बुद्धि भूल गया था।

शिष्य—गुरुदेव ! साधनाकालमें कभी २ ऐसा मालूम पड़ता है कि चींटी सरीखा कुछ रेंगनेसे मेरुदंडके मध्यमें खुजलाहट सी उठती है; तब खुजलानेकी इच्छा होती है। यह क्या है ?

गुरु—वत्स, सुषुम्णा मार्ग द्वारा कुंडलिनी शक्तिके उत्थान कालमें किसी २ को ऐसा अनुभव होता है। कुंडलिनीके इस उत्थानको पिपीलिकागति कहते हैं। योगशिखोपनिषद्, प्रथम अध्याय में लिखा है।

पिपीलिकायां लग्नायां कंडूस्तत्र प्रवर्तते ॥ ११४ ॥
सुषुम्नायां तथाभ्यासात्सततं वायुना भवेत् ॥११९ ॥

अर्थ—चींटी जैसे शरीरमें लग जानेसे वहांपर खुजलीका अनुभव होता है और खुजलानेकी इच्छा होती है वैसे ही

---

८ इसका सारार्थ यह है किहमने सुरापान नहीं किया था पर जयकाली भजनकर सुधा खाया है उससे नशाबाज़ मन आज मत गया है। उससे मदपीनेवाले हमें शराबी बोलते हैं। गुरुदत्त मंत्ररूपी गुडके साथ प्रवृत्ति रूपी मसाला मिलाया है। हमारे ज्ञान रूपी कलारने भट्ठी उतारी है और मेरा मतवाला मन उसे पीता है। मूलमंत्ररूपी शराब यंत्रमें (पात्रमें) भरी है। हम उसे तारा मां बोलकर शोधन करते हैं। रामप्रसाद कहते हैं, हे मन ऐसी सुरापीनेसे चतुर्वर्ग मिलते हैं। रामप्रसाद अम्बस्थवैद्य जातिके भक्त थे। इन्हें कालीमांने दर्शन दिया था। अनु०

सर्वदा अभ्यास करते रहनेसे प्राणवायु (कुंडलिनी शक्ति) सुषुम्णामें प्रविष्ट होनेसे और ऊर्ध्व मुख होकर ऊपर उठनेसे सुषुम्णामें भी ऐसा ही चींटी चलने सरीखा और खुजलीका बोध होता है और खुजलाने को इच्छा होती है।

चींटीका चलना, सर्पगति, मेंडकगति, पक्षिगति, इन चार प्रकारकी गतियोंसे कुंडलिनी शक्ति चलती है। इस समय इस बातको यहांपर विस्तार पूर्वक कहनेका प्रयोजन नहीं है; क्रमशः तुमको जब जो अनुभव होगा तब तुम उसे स्वयं ही समझ सकोगे अथवा तब हमसे पूछनेपर हम समझा देवेंगे।

शिष्य—गुरुदेव, एकमात्र मंत्र जप द्वारा ही जो आसन, मुद्रा और प्राणायामादि होते हैं उनको इस समय आपकी कृपासे अपने अनुभवसे समझनेसे मैं आश्चर्ययुत होता हूँ। वर्तमान समयमें इस प्रकार सरल योगमार्ग की कथा किसीके मुखसे नहीं सुनी है न कोई ग्रन्थ में पढ़ी है। हमारे भाग्यसे ईश्वर ने मुझे आप सरीखे सद्गुरु से भेंट करादी है। कलि के दुर्बल जीवों के विषय में इस नाम साधन की अपेक्षा विशेष सहज साधन और कौन हो सकता है। पुराणोंमें लिखा है—"कलौ केशव कीर्तनात्"। ऐसा पढ़ा भी है—"कलौ जपात् सिद्धिः"।

बृहत् नारदीय पुराण में लिखा है :—

> हरेर्नाम हरेर्नाम हरेनामेव केवलं।
> कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

अर्थ—कलि में केवल हरिनाम ही तारण है दूसरी कोई गति नहीं है। तीन बार कहने से अति निश्चय का बोध बताया है। पातंजल योगसूत्रमें लिखा है—तज्जपस्तदर्थभावनं

अर्थात् उसके नामका जप करना और उसके अर्थ की चिन्ता करनी यह साधना की जड़ है। श्रुति में कहा है :—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेधव्यम् शरवत्तन्मयो भवेत्।। मुंडकउ०-२-२-४।।

अर्थ—स्थिरचित्त से प्रणवरूपी धनुषपर मनरूप शर चढ़ाकर ब्रह्मरूप लक्ष्य मैं मारना चाहिये। इस प्रकार जैसे शरका अग्रभाग लक्ष्य वस्तु मैं घुसकर अदृश्य हो जाता है वैसे ही साधक का मन भी ब्रह्म में प्रवेश कर उसीमें लीन हो जाता है।

गुरुदेव ! आज निज जीवन में इसका प्रत्यक्ष अनुभव करके शास्त्रवाक्य के तात्पर्य को समझता हूं। परम दयालु भगवान् ने कलि के दुर्बल जीवों के योग्य इस जप-यज्ञ को वितरण करने के लिए ही आपको भेजा है, इस जपयज्ञ के फल से परम ज्ञान और परम प्रेम का लाभ कर जीव धन्य होते हैं। श्रीभगवान् ने स्वयं कहा है कि यज्ञसमूह में जपयज्ञ मैं हूं—"यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि" (गीता १०-२५)

गुरुदेव ! नाम जानकर ही हम वस्तु को पहचान सकते हैं। नाम लेकर ही किसी वस्तु को प्राप्त करते हैं। इस कारण नाम और नामी में भेद नहीं है। नाम वा शब्द-ब्रह्म का भेद करके ही नाम-रूपातीत परब्रह्म को प्राप्त कर सकते हैं। हे पिता ! आप आशीर्वाद दीजिये कि आपके श्रीपादपद्म में अचला भक्ति बनी रहे।

गुरु—हे वत्स ! सब प्रकार के यज्ञ और पूजाओं में जप ही श्रेष्ठ है; इसमें संदेह नहीं है। देखो यद्यपि यज्ञ श्रुति-स्मृतिविहित धर्म है तथापि उसमें पशुहत्या से हुआ

प्राप मिल जाने से वह यज्ञ अविशुद्धियुक्त है। इसी कारण उसका फल जो स्वर्गलाभ है उसमें अविमिश्र सुख-लाभ नहीं है वहां एक दूसरे के विशेष गुण और सौभाग्य दर्शन करने से ईर्ष्या और दुःख प्राप्त होते हैं। पूजार्चना में भी पुष्प पत्र तोड़ने के द्वारा प्राणी को पीड़ा पहुंचाने का पाप लगता है। इस प्रकार की पूजादि को तंत्रशास्त्र पश्वाचार कहता है। दिव्य भाव की साधना योग युक्त जप है। इस जपयज्ञ और पूजा में किसी की हिंसा नहीं होती। यह केवल प्रेम की साधना है। इसमें प्राण, मन और जीवन देकर केवल उसी प्रियतम को बुलाते हैं। प्राण की वस्तु को प्राण देकर ही बुला सकते हैं पर दूसरे के प्राण न देकर, अपने ही प्राण देकर-अपने प्राण और मन एक करके प्रियतम को बुलाना चाहिये। केवल सद्गुरु के अभाव से ही मनुष्य इसकी प्राप्ति नहीं कर सकता था। इसी कारण वह नाम का माहात्म्य नहीं समझता था।

गुरु की आवश्यकता—नाम की शक्ति जिसके पास हो ऐसा गुरु करो, केवल एक मंत्र कान में सुन लेने से काम नहीं चलता। क्लीं, श्रीं, राम, हरि, इत्यादिक मंत्र तो पुस्तकों में भी लिखे हैं। यदि मंत्रलाभ का ही उद्देश्य है तो पुस्तकों को देखकर निज रुचि अनुकूल एक अच्छा मंत्र ले सकते हैं। बहुत से कहते हैं कि राशिचक्र विचार कर मंत्र ग्रहण करना चाहिये। ऐसा करने से फिर गुरु का क्या प्रयोजन रहा? क्योंकि बुद्धिमान और शास्त्रज्ञ व्यक्ति यह भी अपने अनुभव से निश्चय कर सकेगा। गुरु करने का वास्तव में यह सब उद्देश्य नहीं है। गुरु करने का यह उद्देश्य है कि गुरु शक्ति

संचारद्वारा प्राणशक्ति का जागरण होवे। ऐसा नहीं हुआ तो गुरु करना वृथा हुआ।

हम में वा तुम में जैसे प्राण हैं वैसे ही जगत् की प्रत्येक वस्तु में भी प्राण हैं यहां तक कि एक अक्षर में भी प्राण हैं। प्राण ही शक्ति वा कुंडलिनी हैं। इस शक्ति-जागरण के बिना योग अकेला क्या कर सकता है या ज्ञान या भक्ति प्राप्त करने में कौन समर्थ हुआ है। इसी कुंडलिनी शक्ति के जागरण को वैष्णव लोग राधा-रानी की कृपा कहते हैं। राधारानी की कृपा हुए बिना भाव, भक्ति और प्रेम नहीं आते। यह शक्ति गुरुकृपा से जगती है। तब नामजप करने के लिए बैठते ही साधक को अपूर्व अनुभूति होती है। इसलिए इसे नामशक्ति वा मंत्रचैतन्य कहते हैं। गयाधाम में श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्य को उनके गुरु ईश्वरपुरी से इसी प्रकार की नामशक्ति का लाभ हुआ था। एक दिन उनने प्रकाशानन्द सरस्वती को कहा था कि "गुरुदेव ने हमको वेदान्त का अनधिकारी देख नामजप करने के लिए कहा है। इसीलिए हम नाम जप करते हैं और उस से हंसना, रोना, नाचना, गाना, और शरीर कंपादि होते हैं, हम और कुछ नहीं जानते"। श्रीचैतन्य-चरितामृत आदि लीला ग्रन्थों में लिखा है:—

आप सन्यासी होकर नृत्य और गायन करते हो और सबको साथ लेकर संकीर्तन करते हो, सन्यासी का धर्म तो वेदान्तपठन और ध्यान है उसे छोड़कर यह सब भक्त का काम क्यों करते हैं। आपकी शक्ति देखनेसे तो आप साक्षात् नारायण मालूम पड़ते हैं फिर इस हीनाचार का क्या कारण है? प्रभु ने कहा कि हे श्रीपाद! इसका कारण

सुन। मेरे गुरुने मुझे मूर्ख देखकर यह आज्ञा दी कि हे मूर्ख ! तेरा वेदान्त में अधिकार नहीं है। तू सदा कृष्णनाम जप। यही सारमंत्र है। कृष्णमंत्र से संसार का मोचन होता है; उसके प्रभाव से श्रीकृष्ण चरण मिलते हैं। नाम को छोड़कर कलिकाल में और कोई धर्म नहीं है। सब मंत्रों का सार नाम है यही शास्त्रों का मर्म है। ऐसा कह कर गुरुदेवने मुझे यह श्लोक सिखाया। मैंने उसे कंठ कर लिया और उस पर विचार किया। वह श्लोक यह है:—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥ वृहन्नारदीय

इसका अर्थ—हरिनाम हरिनाम हरिनाम सार, कलियुग में इसे छोड़ दूसरी गति नहीं। यही आज्ञा लेओ और हर क्षण नाम लेओ। नाम लेते-लेते मेरा मन भ्रांत हो गया है मैं उन्मत्त हो गया हूं। धैर्य रखा नहीं जाता। हँसना रोना, नाचना, गाना, इनसे मदमत्त हो गया हूं × × स्वेद कंप, गद्गदाश्रु, रोमांच, वैवर्ण्य, उन्माद, विषाद, धैर्य गर्व, हर्ष, दीनता ये सब होते हैं।

श्रीमत् विजयकृष्ण गोस्वामी को भी गयाधाम में उनके गुरु ब्रह्मानन्द परमहंस से इसी प्रकार की भावशक्ति मिली थी। श्रीमत् रामकृष्ण परमहंसदेव इसी नामशक्ति के बल से प्रेम से मस्त होकर सदा मां, मां, बुलाते और भाव में आकर तन्मय हो जाते थे।

शिष्य—हे गुरुदेव ! हमको भी नामजप करते २ इस प्रकार अश्रु, कंप, पुलकादि होते हैं। कभी २ भक्तिभाव में आकर बेहोश होकर नृत्यगीतादि करने की इच्छा होती

है और हंसना रोना भी होता है; कभी बहुत पसीना होता है। इससे जान पड़ता है कि जो शक्ति महाप्रभु चैतन्य देव, रामकृष्ण परम हंस देव आदि महापुरुषों के भीतर खेलती थी आपकी कृपा से हम अधम भी उसी शक्ति के अधिकारी बने। स्पर्शमणिको छूकर हम भी एकदम ही सोना बन गये हैं।

गुरु—हे वत्स! यह सब जगी हुई शक्ति का कार्य है। इस जाग्रत-शक्ति-संपन्न साधक के साधना काल में ये सब लक्षण अपने आपसे प्रकट होते हैं। तुम्हारी यह साधना नई नहीं है। युगयुगान्तर से गुरुपरंपराक्रम से यह साधना चली आई है। श्रीमत् श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु के परम भक्त शिष्य श्रीमत् रूप गोस्वामी अपनी पुस्तक भक्ति-रसामृतसिन्धु में लिखते हैं:—

अनुभावास्तु चित्तस्थभावानामवबोधकाः ।
ते बहिर्विक्रियाप्रायाः प्रोक्ता उद्भास्वराख्यया ॥
नृत्यं विलूठितं गीतं क्रोशनं तनुमोटनं ।
हूंकारो जृंभनम् श्वासभूमा लोकानुपेक्षिता ॥
लालास्रावो ऽट्टहासाश्च घूर्णाहिक्कादयोऽपिच ।
ते शीताः क्षेपणाश्चेति यथार्थाख्या द्विधोदिताः ॥

अर्थ—इस साधना में चित्तस्थभाव बतानेवाली ये सब बाह्य क्रियाएं अनुभव होती हैं—नृत्य, गीत, भूमि में लोटना, जोर से चिल्लाना, शरीर का मोड़ना, हूंकार अर्थात् हूं हूं कहना, जंभाई लेना, दीर्घश्वास, लोगोंकी निन्दा प्रशंसा की परवाह न करना, लार का बहना, अट्टहास अर्थात् जोरसे हंसना, घूर्णा (शरीर का डोलना) हिचकी, ठंड लगना और हाथ पैर पटकना इत्यादि।

उक्त ग्रन्थ में अन्यत्र :—

चित्तं सत्वीभवत्प्राणे न्यस्यत्यात्मानमुद्भट ।
प्राणस्तु विक्रियां गच्छन् देहं विक्षोभयत्यलम् ॥
तदा स्तंभादयो भावाः भक्तदेहे भवन्त्यमी ।
ते स्तंभस्वेदरोमांचाः स्वरभेदोऽथ वेपथुः ॥
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्विकाः स्मृताः ॥

अर्थ—(इस साधन में नाम जपते २) चित्त सत्वस्थ होकर प्राण लीन होते हैं। प्राण नाना प्रकार की आभ्यंतरिक क्रियाशक्ति के विकासद्वारा देह को विशेष रूप से क्षोभित करते हैं। तब भक्त साधक के देह में ये स्तंभादि भाव समूह प्रगट होते हैं जैसे स्तंभ (खंभे के समान जड़वत् देह की स्थिति) पसीना, रोमांच, स्वरभेद, (कंठ स्वर की नाना प्रकार की विकृति) कंप, शरीर की वर्णविकृति, अश्रु निद्रा, ये आठ सात्विक भावविकृति हैं।

शिष्य—गुरुदेव ! नामजपद्वारा ये पसीना, अश्रु आदि भावसमूह क्यों आते हैं:—

गुरु—हे वत्स, श्रीरूप गोस्वामी अपने इस ग्रंथ में इस सम्बन्ध में लिखते हैं:—

चत्वारि क्ष्मादि भूतानि प्राणो जात्ववलंबते ।
कदाचित्स्वप्रधानः सन् देहे चरति सर्वतः ॥
स्तंभं भूमिस्थितः प्राणस्तनोत्यश्रुं जलाश्रयः ।
तेजस्थः स्वेदवैवर्ण्यं प्रलयं वियदाश्रितः ॥
स्वस्थ एव क्रमान्मन्दमध्यतीव्रत्व-भेदभाक् ।
रोमांच कंप वैस्वर्याण्यत्र त्रीणि तनोत्यसौ ॥

अर्थ—देह मध्य में प्राण कभी तो पृथ्वी, कभी जल, तेज, या आकाश इन चार में से किसी एक का अवलंबन करता

है और कभी वह स्वप्रधान होकर देह में सर्वत्र विचरता है। प्राण जब भूमि का अवलंबन करता है तब स्तंभभाव, जलाश्रित होने से अश्रुपात (यानी रोना), तेजस्थित होने से स्वेद और वर्ण विकार, आकाशाश्रित होने से प्रलय (मूर्छा, तन्द्रा, या निद्राभाव) प्रकट करता है। जब प्राण स्वस्थ (अपने रूप में अर्थात् वायु में स्थित) रहता है तब मंद, मध्य और तीव्र भेद से यथाक्रम से रोमांच, कंप, और स्वर विक्रिया ये तीन भाव प्रगट होते हैं।

हमारी देह के मूलाधार और स्वाधिष्ठान आदि पांच चक्र पृथ्वीजलादि पांच महाभूतों के स्थान हैं,—मूलाधार में पृथ्वीतत्व, स्वाधिष्ठान में जलतत्व, मणिपुर में तेजतत्व, अनाहत में वायुतत्व और विशुद्ध चक्र में आकाशतत्व वर्तमान् हैं। प्राणी के पृथ्वी आदि भूतसमूह के विषय में जो कुछ कहा गया है उसका अर्थ यही है कि प्राण जब मूलाधार में है तब पृथ्वीतत्वका, जब स्वाधिष्ठान में है तब जलतत्वका, और इसी प्रकार मणिपुर, अनाहत, विशुद्धि, चक्र में रहते समय यथाक्रमसे तेज, वायु, आकाश तत्व का आश्रय करके रहता है। इस प्रकार जब प्राण जिस चक्र में वर्तमान् है तब उस चक्र के भूततत्व के लक्षण प्रगट करेगा। षट्चक्र का जब वर्णन आगे करेंगे तब तुम उसे विशेष रूप से समझ सकोगे।

हे वत्स! हमारी इस स्वाभाविक साधना द्वारा आप से आप जो लक्षणसमूह प्रगट होते हैं कृत्रिम अर्थात् चेष्टासाध्य प्राणायाम द्वारा भी ये ही लक्षण प्रगट होते हैं। लिंगपुराण में अधम, मध्यम, और उत्तम तीन प्रकार के प्राणायाम का वर्णन है और उसके बाद उत्तमोत्तम या

सबसे उत्तम प्राणायाम का जो फल वर्णन किया है वह सुनो—

नीचो द्वादशमात्रस्तु उद्घातो द्वादशः स्मृतः ।*
मध्यमस्तु द्विरुद्घातश्चतुर्विंशतिमात्रकः ॥
मुख्यस्तु यस्त्रिरुद्घातः षट्त्रिंशन्मात्र उच्यते ।
प्रस्वेदकंपनोत्थानजनकश्च यथाक्रमम् ॥
आनन्दोद्भवयोगार्थं निद्राघूर्णिस्तथैवच ।
रोमांचध्वनि संविज्ञः स्वांगमोटनकंपनम् ॥
भ्रमणं स्वेदजं न्यासं संविन्मूर्छा भवेद्यदा ।
तदोत्तमोत्तमः प्रोक्तः प्राणायामः सशोभनः ॥†

अर्थ—नीच (अधम), मध्यम और मुख्य या उत्तम भेद से जो त्रिविध प्राणायाम है उसमें से, नीच प्राणायाम १२ मात्रा का अर्थात् उसमें १२ मात्रा का उद्घात वा पूरक करना चाहिये। उसका द्विगुण अर्थात् २४ मात्राका पूरक करने से मध्यम, और तिगुना अर्थात् ३६ मात्राका पूरक मुख्य अर्थात् उत्तम प्राणायाम कहा जाता है। इस त्रिविध प्राणायाम में क्रमसे पसीना, कंप और उत्थान अर्थात् धरती से ऊपर उठना होता है। इस उत्तम प्राणायाम से भी जो उत्तम प्राणायाम है उसमें योगजन्य आनन्द की प्राप्ति, निद्रा, घूर्णा (डोलना), रोमांच, नाना प्रकार की ध्वनिप्रकाश, अंग का ठोकना, कंपन, अपने अंगका नाना प्रकार का भ्रमण (या

---

* पाठांन्तर सकृदुद्घातईरितः।

† हठयोग प्रदीपिका के ज्योत्स्ना टीकाकार उद्घात का लक्षण इस प्रकार बताते हैं कि ऊपर को चढ़ता हुआ प्राण जब अपान वायु को पीड़ित कर ऊपर से लौटता है तब एक उद्घात होता है। घूर्णि के लिए घूसः पाठान्तर है। घूमः का अर्थ है चित्तांदोलना।

संचालन) और उसके द्वारा स्वेद निकलने से देहका क्लेद (गीलापन) त्याग और संविन्मूर्च्छा (अर्थात् भीतरी अनुभूतियुक्त मूर्च्छित भाव) प्रगट होते हैं। इन सब लक्षणों से युक्त जो प्राणायाम है वही उत्तमोत्तम या सर्वश्रेष्ठ प्राणायाम कहा जाता है।

इस प्रकार देखा जायगा कि शक्तिसंचार के साथ नामजप-रूप साधनाद्वारा साधक की देह में जो सब लक्षण प्रगट होते पूर्व में कहे गये हैं वे ही अस्वाभाविक प्राणायाम के अभ्यास से भी होते शास्त्र में कहे हैं। इसलिए स्वाभाविक और अस्वाभाविक दोनों प्रकार की साधनाओं से एक ही प्रकार के लक्षण प्रगट होते हैं इसमें संदेह नहीं है। किन्तु वत्स, अस्वाभाविक भाव से विशेष क्लेश स्वीकार करके ये सब फल लाभ करने के बदले यदि वे अनायास से मिल जाने के लिए सहज (स्वाभाविक) कोई मार्ग मिल जाय तब फिर इस कृत्रिम मार्ग के अनुसरण करने की क्या आवश्यकता है? वस्तुतः किसी उपाय से कुंडलिनी जागरित होनेपर ही सर्व योगलक्षण प्रगट होते हैं; क्योंकि एकमात्र कुंडलिनी सब योग सिद्धि की जड़ है। हठयोगप्रदीपिका में लिखा है कि:—

सशैलवनधातृणां यथाधारोऽहिनायकः।
सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारो हि कुंडली ॥ ३—१ ॥

अर्थ—जैसे अनन्त नागवासुकि सब पर्वत और जंगल सहित पृथ्वी का आधार है वैसे ही सर्पाकारा कुण्डलिनी भी सर्वयोग-प्रणालीसमूह का आधार और आश्रय है। साधक किसी भी प्रणाली से योगसाधन करे, कुण्डलिनी जागरण होने पर ही उसे सिद्धि लाभ होगी; नहीं तो सिद्धि दूर रहेगी।

सिद्ध गुरु के शक्तिसंचार करने से कुंडलिनी सहज में जग जाती है और तब बिना प्रयत्न के आपसे आप सारे योग लक्षण प्रगट होने लगते हैं।

जिसे यह सहज योगमार्ग नहीं मिला है उसे ही कुंडलिनी जगाने के लिए अस्वाभाविक प्राणायामादि-रूप कृत्रिम मार्ग का अनुसरण करना पड़ता है। किन्तु जिसे सौभाग्यवश सिद्ध गुरु की कृपा प्राप्त हुई है उसे यह कृत्रिम मार्ग का अवलंबन न करना पड़ेगा। (हे वत्स! तुम्हारी पूर्व की सुकृति के कारण यह सिद्ध (स्वाभाविक) मार्ग तुम्हें प्राप्त हुआ है। सावधान चित्त से उसी में लगे रहो और अध्यवसाय (लगातार उद्योग) सहित साधना करते जाओ। ऐसा करने से सर्व योगफल लाभ होगा। और अन्त में कैवल्यरूप परामुक्ति प्राप्त होगी। कुलार्णव तंत्र, उल्लास १४, में लिखा है किः—

वेधदीक्षाकरो लोके श्रीगुरुर्दुर्लभः प्रिये।
शिष्योऽपि दुर्लभस्तादृक् पुण्ययोगेन लभ्यते ॥६९॥

अर्थ—(शिव पार्वती को कहते हैं) हे प्रिये! इस लोक में वेधदीक्षादाता (शक्तिसंचारकारी) गुरु दुर्लभ है और इस दीक्षा का अधिकारी शिष्य भी दुर्लभ है। केवल पूर्व-पुण्य-प्रभाव से ही ऐसे गुरु का लाभ होता है।)

हे वत्स! ऐसा गुरु पाने पर ही उसकी कृपा से कुंडलिनी शक्ति के जागरणद्वारा यह स्वाभाविक योग-पथ की प्राप्ति होती है। गुरुकृपा पाकर केवल भक्ति भाव से नाम वा मंत्र साधनाद्वारा यदि सर्व योगफल लाभ हो सके तो कृत्रिम भाव से मंत्र हठादि योग साधन करने की क्या आवश्यकता है। हमने पूर्व में कहा है

कि ऐसे सद्गुरु की प्राप्ति सर्व साधारण के भाग्य में नहीं होती। (योग की बात सुनकर ही लोगों के मन में डर उत्पन्न होता है। पर इस प्रकार के योग में डर बिलकुल नहीं है क्योंकि इस मार्ग में अन्तरगुरु भीतर से आसन मुद्रा प्राणायामादि सब कर्म की और भक्ति और ज्ञानादि रूप सर्व योग की शिक्षा देते हैं। यह योग मुख से प्रकट करने योग्य नहीं है। केवल गुरुकृपा से शिष्य अपने भीतर उसका अनुभव करेगा। इस साधना का मूल आधार भक्ति है। भक्ति आने से योग और योग आने से परम ज्ञान लाभ होता है। इस ज्ञानद्वारा ही साधक आत्म-स्वरूप की प्राप्ति करके परमानन्द भोग करने लगता है। यही साधक का परम पुरुषार्थ है।)

शिष्य—हे पिता! आपकी कृपा से हमको अनेक प्रकार के आसन और मुद्रा आपसे आप हुए हैं। ये क्या हैं—इनके द्वारा हमारा क्या उपकार होगा? इन सबका हम नाम भी नहीं जानते।

गुरु—वत्स! तुमको जो सब आसन मुद्रा हुए हैं उनके लक्षण बोलते जाओ। हम उनके नाम और गुण तुमको कहते जावेंगे।

शिष्य—किसी-किसी समय ऐसा होता था कि वाम ऊरु (जंघा) ऊपर दक्षिण पग और दक्षिण ऊरु ऊपर वाम पद रखकर बैठा था और दोनों हाथ पीठ से आकर आड़ी रीति से दक्षिण हस्त से वाम पद का अंगूठा और वाम हस्त से दक्षिण पद का अंगूठा मजबूती से पकड़ने की इच्छा होती थी। मैं वैसा बैठ भी गया था। गुरुदेव यह कौन आसन है?

गुरु—यही पद्मासन है, दोनों जंघाओं के ऊपर दोनों पांव रखकर बैठना इसका नाम मुक्तपद्मासन है और मुक्तपद्मासन से बैठकर इस प्रकार से दोनों हाथों से दोनों पद अंगूठों को पकड़ कर बैठना बद्धपद्मासन होता है। पद्मासन अभ्यास द्वारा सब व्याधियां दूर होती हैं और प्राण वायु शीघ्र ही सरल भाव से चलायमान होता है।

शिष्य—किसी समय मैं गुदा और उपस्थ के बीच में वाम चरण की एड़ी (गुल्फ) अड़ाकर और दक्षिण चरण की एड़ी से उपस्थ के ऊपरी भाग को दबाकर बैठा था। चिबुक (ठुड्डी) को हृदय में लगा कर और दृष्टि को भ्रूमध्य में रखकर जप करने लगा था।

गुरु—वत्स ! यही सिद्धासन है। सब आसनों में यह आसन श्रेष्ठ है। इसी सिद्धासन द्वारा अनेक सिद्ध योगी सिद्धि को प्राप्त हुए हैं। इसी आसन के अभ्यास से विना आयास (परिश्रम) के मूलबंध, उड्डियानबंध और जालंधरबंध ये तीन बंध सिद्ध होते हैं। इससे योग की उन्मनी दशा भी प्राप्त होती है।

शिष्य—जानू (जंघा) और ऊरु के मध्य में दोनों पादतल स्थापन करके खड़ा सीधा शरीर रखकर बैठा था।

गुरु—यह स्वस्तिकासन है। इसे सुखासन भी कहते हैं; क्योंकि दुःखराशि को दूर करता है और शरीर और मन को सुस्थिर करता है। इसके द्वारा वायुसिद्धि शीघ्र होती है।

शिष्य—उभय पद डंडे के समान भूमि पर पसार कर हाथ की अंगुलियों से दोनों पांव के अंगूठों को पकड़ कर मध्य में माथा रखकर मैं जप करता था।

गुरु—यह पश्चिमोत्तान आसन है। इसे उग्रासन भी कहते हैं। इस आसन से उदर की अग्नि बढ़ती है और शरीर की जड़ता और थकावट दूर होती हैं। वायुसिद्धि शीघ्र होती है और दुःखराशि का नाश होता है। इसके द्वारा प्राण वायु शीघ्र ही पश्चिम पथ में अर्थात् सुषुम्णा में प्रवेश करता है। इसलिए इसे पश्चिमोत्तान कहते हैं।

शिष्य—एक पांव पीछे की तरफ रखकर उसकी ऊरु के ऊपर दूसरे पांव को स्थापन करके मैं बैठा था।

गुरु—वत्स! इसे वीरासन कहते हैं।* इस आसन से शरीर के रस और वात दूर होते हैं और अर्शादि गुह्य रोगों की शांति होती है।

शिष्य—अंगुष्ठ से नाभिपर्यन्त अधोभाग भूमि में स्थापन करके दोनों करतलों को धरती पर रखकर सर्प के समान शिर ऊंचा उठाकर मैं अवस्थित था।

गुरु—इसे भुजंगासन कहते हैं। इससे कुंडलिनी शक्ति शीघ्र उत्थान पाती है; दिन दिन जठराग्नि बढ़ती है और रोग नष्ट होता है।

शिष्य—कभी २ मैं शव के समान चित्त होकर पड़ा रह कर जप करता था। उससे बहुत आराम का भान होता था।

गुरु—यह शवासन है। योगसाधनद्वारा जो परिश्रम होता है वह इस शवासन से मिट जाता है और चित्त को विश्राम सुख मिलता है।

शिष्य—गुरुदेव! कभी कभी मुझे पांव की एड़ी (पाद-

---

*वीरासन अन्य प्रकार का भी होता है। दोनों पांवों को मोड़कर पीछे की तरफ रखकर उनपर बैठने को वीरासन कहते हैं।

गुल्फ) से गुदा मूल पीड़ित होकर गुदा संकुचित होती है और अपान वायु ऊपर को खिंचता है। इस क्रिया को क्या कहते हैं।

गुरु—यह एक प्रकार की मुद्रा है। इसे मूलबंध मुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा जरादिनाशक है। इसके द्वारा प्राण और अपान मिल जाते हैं। साधक इस मुद्रा के द्वारा पद्मासन में बैठकर प्राणवायु का जय करता हुआ शून्य अवस्था (अधर) में स्थित होने के योग्य होता है। इसी मुद्रा की सहायता से दार्दुरी (मेंडक गति के समान) गति होती है। अर्थात् साधक पद्मासन बांधे हुए मेंडक के समान एक स्थान से दूसरे स्थान को उछल कर जा सकता है।

शिष्य—कभी ऐसा हुआ था कि प्राणवायु के रेचन होनेपर उदर खाली होकर पीछे की ओर नाभि संकोचन होता था। तब ऐसा बोध होता था कि नाभि के नीचे का वायु खिंचकर ऊपर को उठता है।

गुरु—इसीको उड्डियान मुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा मृत्युरूप हाथी के लिए सिंहस्वरूप है। इससे नाडी-शुद्धि और वायु-शुद्धि होती है। नाडी-शुद्धि होने से जठराग्नि बढ़ती है। वायु-शुद्धि होनेपर मनकी चंचलता नाश होती है।

शिष्य—कभी २ मैं कण्ठ सङ्कोचनपूर्वक हृदय में चिबुक (ठुड्डी) स्थापन करके जप करता था। यह क्या है ?

गुरु—इसे जालन्धरबन्ध मुद्रा कहते हैं। प्राणिगणों में सहस्रार से टपकते अमृत को नाभिचक्रस्थ सूर्य और अग्नि शोषण कर डालते हैं। किन्तु इस जालन्धर मुद्रा के करने

से अमृत के झरने का मार्ग बन्द हो जाता है और अग्नि उसका शोषण नहीं कर सकती। इस मुद्रा की सहायता से योगी का मन शीघ्र मूर्च्छा को प्राप्त होता है।

शिष्य—कभी २ वाम पद की एडी (गुल्फ) द्वारा गुदा मूल को सम्पीडन करके दक्षिण चरण को पसार कर दोनों हाथों से प्रसारित पद के अँगूठे और उँगलियों को दृढ़ रूप से पकड़ कर और दोनों भुजाओं के बीच में शिर रख कर मैं जप करता था। कभी २ इसका विपरीत भाव भी होता था।

गुरु—वत्स, इसे महामुद्रा कहते हैं। इस मुद्रा से कुण्डलिनी संतप्त होकर प्राणवायु के सहित सुषुम्णा मार्ग में प्रवेश करती है। इससे समस्त नाड़ियों का चालन और विन्दु धारण होता है और शरीर की जड़ता मिटती है। शारीरिक पीड़ा की शान्ति, उदरानल की वृद्धि, देह में सुनिर्मल कांति, बुढ़ापे के लक्षणों का दूर करना, और इन्द्रिय-संयम, ये सब इससे होते हैं। इस मुद्रा के अभ्यास से क्षय, कुष्ट, अर्श, भगन्दरादि गुह्य रोग, गुल्म और अजीर्णादि दोष नष्ट होते हैं।

शिष्य—इस महामुद्रा के अनुष्ठान के बाद एक बार दक्षिण चरण मोड़कर वाम ऊरु ऊपर स्थापित करके और उदर में वायु पूरण करके, जालंधर वंध साध, कुंभक की सहायता से मैं जप करता था। जप करते २ धीरे २ वायु रेचन होता था।

गुरु—यह महावंध मुद्रा है। इस मुद्रा के अभ्यास से प्राणवायु सुषुम्णा में प्रवेश करता है, शरीर की पुष्टि होती है और अस्थिपंजर दृढ़ होता है।

शिष्य—हे पिता ! इसके बाद महाबंध अवस्था में बैठ कर प्राण वायु को बाहर रख (पूरक न कर) उड्डियान बंधपूर्वक बहिःकुंभक हुआ। इसमें कभी दोनों हाथों से कुक्षि के दोनों बाजुओं को मृदु ताड़न करने की इच्छा होती थी।

गुरु—इसको महावेध कहते हैं। वत्स ! इस मुद्रा के द्वारा प्राण इड़ा पिंगला को छोड़ सुषुम्णा में प्रवेश करते हैं और इस प्रकार इससे तीन ग्रंथियों का भेद होता है। कुंडलिनी सहस्रार तक जाने आने लगती है। इस से वायु सिद्धि और जरा का नाश होता है।

शिष्य—कभी-कभी मैं धरती पर दोनों करतल उत्तान भाव से स्थापन कर उस पर मस्तक रख पदद्वय ऊपर उठा कर लंबे करके इस अवस्था में कुंभक कर नाम जप करता था। यह तो बड़ा ही अद्भुत था। गुरुदेव! इसका क्या नाम है ?

गुरु—वत्स इसको विपरीतकरणी मुद्रा कहते हैं। इससे जठराग्नि बढ़ती है शरीर की वली (गुडियां झुर्री), पलीतादि (सफेदबाल) दूर होते हैं। मस्तक (तालु) में चन्द्र और नाभि में सूर्य हैं। चन्द्र से निकला अमृत सूर्य में गिर कर सूख जाता है। इसलिए मनुष्य के शरीर में जल्दी-जल्दी बुढ़ापा वगैरा आ जाता है। पर इस मुद्रा के प्रभाव से दीर्घ काल तक यौवन बना रहता है।

शिष्य—और कभी इस विपरीत करणी अवस्था में दोनों हथेली नीचे हो जाती थीं और दोनों हाथों के बल उठकर मेरा मस्तक अधर हो जाता था।

गुरु—इसे घेरंड संहिता में वज्रोलीमुद्रा कही है। इस मुद्रा के प्रभाव से साधक को विन्दुसिद्धि अवश्य होती है अर्थात् विन्दु का बहना या गिरना नहीं होता और विन्दु धारण करने की सामर्थ्य होती है। यह साधक को दीर्घायु देती है।

शिष्य—गुरुदेव! आपकी कृपा से और भी अनेक प्रकार की क्रियाएं होती थीं पर वे अब याद नहीं आतीं। प्रयत्न करने से कदाचित् वे मन में आ सकें।

गुरु—वत्स! चेष्टा करके जो-जो तुम्हारे स्मरण में आसके उन्हें कहो। हम उन सब के नाम और गुण बतावेंगे।

शिष्य—जप करते-करते (१) मुख किंचित् विस्तारपूर्वक गले से वायुपान करता था, (२) किसी समय ऊर्द्धजिह्व होकर कुंभक करके रुक जाता था, (३) किसी समय काक के समान चोंच करके वायु आकर्षण करता था।

गुरु—प्रथम क्रिया को भुजंगिनीमुद्रा कहते हैं। इसके द्वारा जरामृत्यु का नाश होता है। द्वितीय क्रिया को नभोमुद्रा कहते हैं। इसके द्वारा योगी का रोग नाश होता है। इसी मुद्राभ्यासद्वारा क्रमशः जिह्वा आलजिह्वा (uvula कव्वा) के छेद में प्रवेश करने योग्य होती है और आगे खेचरी मुद्राकी क्रिया होती है। तीसरी क्रिया काकी मुद्रा है। कोई २ इसे शीतलीमुद्रा भी कहते हैं। इसके द्वारा साधक काक के समान दीर्घजीवी होता है। इस से रक्तशुद्धि होती है और ज्वरप्लीहादि और गुल्म का नाश होता है।

शिष्य—पिता, किसी दिन जप करते-करते कपाल भयानक रीति से टन्-टन् करता है और पीछे नेत्र ऊपर को होकर

भ्रूमध्य में दृष्टि स्थित होती है। इसमें अच्छा—आराम मिलता है और मन भी स्थिर हो जाता है। यह कौन मुद्रा है ?

गुरु—वत्स! इसे शांभवीमुद्रा कहते हैं। इस मुद्रा द्वारा योगी शंभुसदृश होता है। इस से मन भ्रूमध्य में स्थिर होकर आत्मचैतन्य स्थिति लाभ होती है।

शिष्य—कभी-कभी जप करते-करते दोनों अंगूठों के द्वारा दोनों कर्ण छिद्र, दोनों तर्जनियों के द्वारा दोनों चक्षु, और दूसरी उंगलियों द्वारा मुख और नासिका बंध हो जाती थीं; यह क्या है ?

गुरु—घेरंड मुनि इस मुद्रा को योनिमुद्रा कहते हैं और हठयोगप्रदीपिका के कर्ता आत्माराम योगीन्द्र इसे परांगमुखीमुद्रा नाम देते हैं। इस से अनाहत नाद स्पष्टता से सुन पड़ता है और ज्योतिर्मय जीवात्मा के दर्शन लाभ होते हैं। इस आत्मज्योति के दर्शन से साधक निष्पाप होता है।

शिष्य—गुरुदेव! आपकी कृपा से आसन और मुद्रा समूह की उपयोगिता का हाल जाना। शरीर और मन को सुस्थ और शक्तिमान् बनाने के लिए इन सब क्रियाओं की आवश्यकता है। इस सिद्धयोग साधन में मुझे ये अपने आपसे होती गई हैं। बिना प्रयोजन कुछ नहीं हुआ है। समय २ पर मेरा मन गुरुशक्ति पर विश्वास नहीं होने से दुःखरूपी समुद्र में गोते खाता था। गुरुदत्त नाम की शक्ति से विविध आसन मुद्रादि योग क्रियासमूह अपने आप से होती हैं। यह अनुभव करके मैं आश्चर्यमय हो गया। मेरे सरीखे कलि के दुर्बल जीवों के लिए ऐसी सहज साधना

ही श्रेष्ठ है। आशीर्वाद दीजिये कि आपकी दी हुई नामसाधना निरन्तर कर सकूं।

गुरु—वत्स! हमने तुम्हारी प्रकृति का अन्तर्मुख द्वार खोल दिया है। अब जितनी साधना करोगे उतना ही प्रकृति अपने आपसे तुम्हें पूर्णता की ओर ले जावेगी। इस समय तुम्हारा सारा प्रयत्न और पुरुषार्थ गुरूपदेश के अनुसार साधना करने का है। इच्छा हो, अनिच्छा हो, निरन्तर नामजपरूप डांड से खेते जाना। डांड से खेने से नाव अपने पहुँचने की जगह पहुँच जायगी, मार्ग में कितनी विचित्र शोभा देखोगे और विविध आनन्दजनक अनुभूति प्राप्त करके सुखी होगे। किन्तु मार्ग का कोई भी दृश्य देखकर, मुग्ध होकर, डांड चलाना छोड़कर वहीं अटक न जाना। आगे बढ़ते जाना। गुरू तो पीछे पतवार धर कर बैठे हैं। गुरुशक्ति में विश्वास रखना और निर्भय रहना।

शिष्य—गुरुदेव! और भी कितने प्रकार के आसन मुद्रादि हुए हैं उन्हें आपको निवेदन करता हूँ। उन सबका क्या नाम है?

१—किसी समय मुक्तपद्मासन करके ऊँधा होकर पड़ा था और किसी समय इसी अवस्था में चित्त हो जाता था।

२—किसी समय ऊँधा लेटकर मस्तक को ऊपर उठाकर दोनों पाँव के अँगूठे हाथ से दृढ़ता से पकड़े था।

३—कभी २ जप करते २ पाँव लम्बे करके और चिवुक हृदय में जमाकर शांत भाव से चुप बैठता था और कभी २ बाजू से लेटकर जप करता था।

४—कभी २ चित्त सोकर पाँव को ऊपर उठाकर शिर तक लाकर दोनों हाथों से दोनों अँगूठों को जोर से पकड़ता था और

५—कभी २ हाथ पकड़ना नहीं होता था।

इस तरह नाना प्रकार की अवस्थायें होकर जपादि होते थे। वे सब आपको क्या कहूँ! सब ही आपकी कृपा के फल हैं।

गुरु—वत्स! तुमको पूर्व में ही एक बार बता दिया है कि चौरासी लक्ष योनि की चौरासी लक्ष बैठने की प्रणालियाँ हैं। प्रत्येक को आसन कह सकते हैं।

उन सब आसनों में से मुख्य २ आसनों का वर्णन हमारे वर्तमान शास्त्र में है। बाकी शास्त्र में नहीं पाये जाते सो ऐसा मत समझना कि वे किसी काम के नहीं हैं। क्योंकि हमारे देश से अनेक शास्त्र लुप्त हो गये हैं और जो हैं, वे सब हमारे जाने नहीं हैं, न उनके जानने का उपाय भी है। हमारा हिन्दु शास्त्र सागर के समान अनंत है और हमारी आयु अल्प है।

वत्स! जो सब आसनादि हुए हैं उन सबका नाम देनेका कोई प्रयोजन नहीं है। जो योगशास्त्र में मिलते हैं उन्हीं को जान लेना ठीक है। सारांश में जान रखो कि स्वाभाविक रीति से तुमको जो कुछ होगा वह सब ठीक ही है। इन समस्त क्रियाओं से शरीर का गठन होता है। निर्मल शांति चाहिये। शरीर किसी भी अवस्था में रहे उससे कुछ सम्बन्ध नहीं है। केवल लक्ष्य विषय में लक्ष्य रखकर जप और ध्यान करते रहना चाहिये।

शिष्य—पिता! ब्रह्मसूत्र में लिखा है कि 'आसीन संभवात्' अर्थात् बैठकर जप और ध्यानादि करना चाहिये। किन्तु मुझे तो कभी बाजू से लेटकर, कभी चित्त और कभी ऊंधे लेटकर जप और ध्यान होते हैं। इससे मनको संशय

होता है कि क्या मैं शास्त्रनीति का लंघन तो नहीं करता। आपके इस उपदेश सुनने से इस सामान्य विषय में मनका संशय दूर नहीं होता।

गुरु—हे पुत्र! संशय होने से ही वस्तुका निर्णय होता है। एक विषय में जितने अलग २ संशय उपस्थित होंगे उतना ही दृढ़ निश्चय उस वस्तु के निर्णय में होगा। जब तक तत्व साक्षात्कार नहीं हुआ तब तक संशय दूर नहीं होता। श्रुति तत्वदर्शी के लक्षणों के विषय में कहती है:—

भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ मुंडक उप० २-२-८।

अर्थ—जिसने कार्यकारणात्मक ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है उसकी हृदयग्रंथि (अहंकार अथवा यह देह मैं हूँ, यह भाव) नष्ट होती है, सर्व संशय छिन्न होते हैं और सब (प्रारब्ध कर्म छोड़कर आगामी और संचित) कर्म क्षय को प्राप्त होते हैं। अब तुम्हारे मनका संशय दूर करते हैं।

गुरुकृपा से सर्व योग की आधाररूपा मूलाधारस्था कुंडलिनी शक्ति जागरित होने से ही आसन मुद्रा प्राणायामादि अस्वाभाविक रीति से नहीं करने पड़ते। तब ये आप से आप आवश्यकतानुसार होते जाते हैं।

यह कुंडलिनी शक्ति तीन उपायों से जागती है, एक तो योगशास्त्रोक्त आसन, मुद्रा और प्राणायाम के अभ्यास से, दूसरे सिद्ध गुरु की कृपा द्वारा और तीसरे जन्मजन्मान्तर में कमाई हुई भक्ति द्वारा।

वत्स! दूसरा उपाय सबके लिए उत्तम और सहज है। जिसे गुरुकृपा अथवा जन्मान्तरों में कमाई भक्ति द्वारा यह कुंडलिनी शक्ति नहीं जगती है उसे फिर उस शक्ति को

जगाने के लिए अस्वाभाविक रीति से (अर्थात् हठयोग की विधि से) आसन, मुद्रा, प्राणायाम अभ्यास करना पड़ता है। कुंडलिनी शक्ति जागरणद्वारा इस स्वाभाविक वा सहज योग लाभकरने के पूर्व यदि साधक, बैठकर नहीं, पर सोकर उपासना वा साधना करे तो वह तमोगुण में दबकर निद्रित होकर पड़ा रह सकता है। इसलिए यह शासन वाक्य "आसीन संभवात्" कहा गया है। किन्तु सद्गुरु की कृपा से यह सहज योग लाभ हो जाने पर फिर कोई बंधनकारी नियम नहीं रहता। गुरुशक्ति की प्रेरणा से जब जिस अवस्था में रहकर जप वा ध्यान करने की इच्छा होवे उसी भाव से जपादि करने से शांति होगी। प्रथम अध्याय में सिद्धि मार्ग का वर्णन करते समय तुमको एकबार यही बात विस्तारपूर्वक कह चुके हैं। उससे और कुछ अधिक अब नहीं कहना है।

हे वत्स! ऊपर कहे तीन उपायों से साधकको कुंडलिनी-शक्ति-जागरणरूप सिद्धिमार्गका लाभ होता है; इस कारण साधकोंको भी तीन श्रेणियोंमें बांट दिया है। जैसे साधन सिद्ध साधक, कृपासिद्ध साधक, और हठात् या दैवसिद्ध साधक। स्वप्नसिद्धसाधक हठात् या दैवसिद्धसाधकमें शामिल है। इसलिए उसे अलग स्वतन्त्रश्रेणी में नहीं रखा।

१ यम, नियम, आसन, मुद्रा और प्राणायामादि साधन द्वारा जो कुण्डलिनी शक्तिका जागरण करता है उसे साधन-सिद्ध, (२) सद्गुरुकी कृपासे जिसकी कुंडलिनी जागरित हो उसे कृपासिद्धऔर (३) जन्म-जन्मान्तरोंमें कमाई भक्तिसे जिसकी शक्ति जागे उसे हठात् या दैवसिद्ध कहते हैं। स्वप्नमें महापुरुष या देवता द्वारा शक्ति संचारित होनेसे यदि यह कुण्डलिनी जगे तो उसे भी हठात् वा दैवसिद्ध कहते

हैं। हे पुत्र! यह बात तुम्हें उदाहरण द्वारा समझाते हैं जैसे (१) तुम वहुयत्न करके शिरपर धूप सहकर दिनरात अविश्रांत चेष्टा करके पैसा कमाते हो; साधनसिद्ध भी ऐसा ही करता है। (२) कोई धनी या राजा तुमपर कृपा करके तुम्हें कुछ धन या सम्पत्ति दे देवे, ऐसा ही कृपासिद्ध का हाल है। (३) तुम्हें किसी रास्तेमें चलते २ या घर बैठे अचानक कोई धन प्राप्त होवे; हठात् या दैवसिद्ध भी इसी प्रकार है।

स्वामी श्रीशंकर तीर्थ...

—:o:—

नवम अध्याय

शिष्य—हे पिता ! आजकल प्रायः नाना प्रकार की श्वास-क्रियाएं, श्वासके आगम, निर्गम, अवरोध जानने में आते हैं। इनसे क्या फल लाभ होता है ?

गुरु—हे वत्स ! इसी क्रिया को योग शास्त्र में प्राणायाम कहा है। पूरक, रेचक, और कुंभकभेद से प्राणायाम के तीन अंश हैं। इस क्रिया से प्राणसंयम होता है, इससे इसे प्राणायाम कहते हैं। कुंभक से प्राणवायु स्थिर होकर मन और चित्त भी स्थिर होते हैं। प्राणायाम से प्रथम तो नाड़ीशुद्धि होती है। जैसे हमारे घरका कचरा झाडु द्वारा साफ होता है, वैसे ही देहके नाड़ीसमूह का मल दूर करनेवाला प्राणायाम भी झाडु सरीखा है। प्राणायाम से नाड़ीसमूह मलरहित होकर उनमें प्राणवायु मुक्त रीति से बहने लगता है। इस अभ्यास का फल यह होता है कि क्रम-क्रम-से प्राण और मन की चंचलता दूर होकर अन्त में साधक को उन्मनीभाव (समाधि) और एकाग्र-चित्तता का लाभ होता है। पातञ्जल योग सूत्र में लिखा है:—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥ पाद २

अर्थ—प्राणायाम सिद्ध होने पर योगोके विवेक ज्ञान का आवरण (परदा या ढक्कन) क्षय को प्राप्त होता है।

इन्द्रजाल के समान महामोह प्रकाशकरनेवाले सतोगुण को ढांककर, जीव को अकार्य अर्थात् न करने योग्य कामों में लगाता है। इसी प्रकाश का आवरण रूप कर्म संसार-बन्धन का हेतु है। पर यह प्राणायाम द्वारा दुर्बल होकर

प्रतिक्षण क्षयको प्राप्त होता है। इसलिए शास्त्र में कहा है कि प्राणायाम से और अच्छी तपस्या दूसरी नहीं है। उससे चित्तके सारे मल धो जाते हैं और ज्ञान प्रकाशित होता है।*

शिष्य—गुरुदेव! साधन काल में प्राणायाम और अंग संचालन से बहुत पसीना निकलता है। क्या उसे उसी क्षण पोंछ देना उचित है?

गुरु—वत्स! साधन काल में जो पसीना निकले उसे अङ्ग में तेल मर्दन के समान मलना चाहिये। उससे देह की दृढ़ता और लघुता होती हैं।†

शिष्य—गुरुदेव! श्वास की क्रिया और प्राणायाम नाना प्रकार के होते हैं तो उनके नाम भी अलग २ होंगे और जुदे २ प्राणायाम से जुदा २ फल भी मिलता होगा। आजकल मुझे कई एक अद्भुत प्रकार के प्राणायाम होते हैं सो आपको बताता हूँ।

आप कृपापूर्वक उनका नाम और फल बता देवेंगे तो मैं कृतार्थ हो जाऊँगा।

गुरु—वत्स! अद्भुत कुछ नहीं है। इस सिद्ध महायोग साधनद्वारा जो सब क्रियाएं प्रगट होती हैं वे सब योगशास्त्रके

---

* महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्वमावृत्य तदेवाकार्ये नियुंक्ते इति। तदस्य प्रकाशावरणं कर्म संसारनिबंधनं प्राणायामाभ्यासात् दुर्बलं भवति प्रतिक्षणं च क्षीयते। तथाचोक्तं, "तपो न परं प्राणायामात्, ततो विशुद्धि मलानाम् दीप्तिश्च ज्ञानस्येति।" (योगसूत्र-व्यासभाष्यम्)

† जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत्। दृढता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते। हठयो० प्र० २-१३

भीतर ही हैं। किस २ प्रकारके प्राणायाम होते हैं सो कहो, हम उनके नाम और फल बता देते हैं।

शिष्य—अद्भुत यह है कि इतने दिन तक हम मानते थे कि प्राणायाम नाकको बन्ध करके साधना पड़ता है, अब हम देखते हैं कि हमारे प्राणायाम में नाक का बंध करना नहीं है न उसमें दम घुटनेका भान होता है। नाना प्रकार के सुखकर कुंभक भी होते हैं। इस प्रकार प्राणायाम में अब बहुत आराम भान होता है।

गुरु—वत्स, तुमको प्रथमदिन ही कह दिया है कि शक्ति संचार होनेसे एक मात्र जपसे ही आसन-मुद्रा-प्राणायामादि सारे योगांग बिना प्रयत्नके आपसे-आप सधते जावेंगे। जिसके भाग्यमें सद्गुरु लाभ नहीं बदा है उसे ही इस सहज-साधन-मार्ग की प्राप्ति न होनेसे नाक पकड़कर प्रयत्न साध्य प्राणायामादिका अभ्यास करना पड़ता है। ऋग्वेद भाष्य भूमिकामें लिखा है :—

"बालबुद्धिभिरगुंलांगुष्ठाभ्यां नासिकाछिद्रमवरुध्य यः प्राणायामः क्रियते स खलु शिष्टैस्त्याज्यः।"

अर्थ—साधारण बालबुद्धि विशिष्ट अज्ञ व्यक्तिको उंगली और अंगूठाद्वारा नाक छिद्र बंधकरके जो प्राणायाम करना पड़ता है वह शिष्ट लोगोंके लिये त्याज्य (छोड़ने योग्य) है; अर्थात् सद्गुरुकी कृपाप्राप्त बुद्धिवान् व्यक्तिगण उस भावसे प्राणायाम नहीं करते।

सो इस प्रकार तुमको किस २ प्रकारके प्राणायाम हुए सो कहो।

शिष्य—गुरुदेव! किसी समय काकीमुद्राके साथ जिह्वा द्वारा वायु खींचकर कुम्भक होता है और उसके बाद नासिका द्वारा रेचन होता है।

गुरु—वत्स, इसका नाम शीतली कुंभक है। गोरक्ष-संहिता में लिखा है :—

जिह्वया वायुमाकृष्य उदरे पूरयेच्छनैः।
क्षणं च कुम्भकं कृत्वा नासाभ्यां रेचयेत् पुनः॥

इस कुम्भकका गुण यह है कि इसके द्वारा अजीर्ण, कफ, और पित्तजनित रोगसमूह नष्ट होते हैं। घेरंड-संहितामें लिखा है :—

अजीर्णं कफपित्तं च नैव देहे प्रजायते।

शिष्य—जैसे लोहार धौंकनी (भस्त्रा) द्वारा अग्नि को धोंकने के लिए धौंकनी में वायु वेग से भरता है और बाहर निकालता है, कभी-कभी ठीक वैसा ही नासापुट में श्वासप्रश्वास वेग से भीतर बाहर जाता आता है।

गुरु—इसे भस्त्राकुंभक कहते हैं। गोरक्षसंहिता में लिखा है:—

भस्त्रैव लोहकाराणां यथाक्रमेण संभ्रमेत्।
ततो वायुश्च नासाभ्यामुभाभ्यां चालयेच्छनैः॥

इस कुंभक के अभ्यास से कोई रोग वा क्लेश नहीं होता और दिन-दिन स्वास्थ्य सुधरता जाता है। घेरंड-संहिता में लिखा है:—

न च रोगं न च क्लेशमारोग्यं च दिने दिने।

हठयोगप्रदीपिका, अ० २ में लिखा है:—

वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम्।
कुंडलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम्॥
ब्रह्मनाडीमुखे संस्थकफाद्यर्गलनाशनम्॥ ६॥

सम्यग्गात्रसमुद्भूतं ग्रंथित्रयविभेदकम् ।
विशेषेण कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुंभकं त्विदम् ॥ ६७ ॥

अर्थ—इस कुंभकद्वारा वात पित्त और कफ नष्ट होते हैं। देहाग्नि वढ़ती है और कुंडलिनी शक्ति जल्दी जगती है। यह कुंभक पवित्र, सुखकर और हितकर है। इससे ब्रह्मनाडी (सुषुम्णा) के मुख में कफादिरूप अर्गल (रुकावट) जो है वह नाश होती है। सुषुम्णा मार्ग में कुंडली के जाने की सुविधा होती है और सुषुम्णा में जो तीन ब्रह्म, विष्णु और रुद्र ग्रन्थियां हैं उनका भेदन होता है। इसलिए इस भस्त्राकुंभक को विशेष करके करना चाहिये।

शिष्य—किसी समय जिह्वा के दोनों वाजुओं से वायु खिंच कर मुख में "सीत" ऐसा शब्द होता हुआ पूरक होकर कुंभक होता है और पीछे नासापुट द्वारा रेचक होता है।

गुरु—इसे सीत्कारी कुंभक कहते हैं। इसके अभ्यास से कामदेव के समान देहकांति होती है और उस से निद्रा, आलस्य, क्षुधा, और तृषा निवारण होती है। हठयोगप्रदीपिका में लिखा है:—

सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विजृंभिकाम् ।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ॥५४॥ अ० २

और भी—न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते ॥५५॥

शिष्य—कभी २ वेग से भ्रमर नाद के समान शब्द के साथ पूरक होकर कुम्भक होता है और फिर ऐसे ही भ्रमर नाद से शब्द के साथ रेचन होता है। तव मन इस शब्द में लय होकर एक प्रकार के अच्छे आनन्द को प्राप्त होता है।

गुरु—वत्स ! यह भ्रामरीकुम्भक है। हठयोगप्रदीपिका, अ० २, में लिखा है:—

वेगाद् घोषं पूरकं भृङ्गना भृङ्गनादं रेचकं मंदमंदम्।
योगीन्द्राणामेवमभ्यासयोगाच्चित्ते जाता काचिदानंदलीला ॥२-६८॥

शिष्य—किसी समय मुख को बन्द कर नासिका द्वारा वायु इस प्रकार आकर्षित होता है कि वायु शब्द सहित कण्ठ होकर हृदय पर्यन्त जाकर लगता है। पीछे कुम्भक के अन्त में धीरे २ रेचन होता है।

गुरु—इसका नाम उज्जायी कुम्भक है। इससे कंठस्थ श्लेष्मदोष नष्ट होकर शरीर की अग्नि बढ़ती है। इससे नाड़ीगत और धातुगत दोष नाश होते हैं और जलोदर अर्थात् उदर में जलसञ्चयरूप व्याधि दूर होती है। हठयोगप्रदीपिका (अ० २) में लिखा है:—

मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः
यथा लगति कण्ठात्तु हृदयावधि सस्वनं ॥ ५१ ॥
पूर्ववत्कुम्भयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः
श्लेष्मदोषहरं कण्ठे देहानलविवर्धनम् ॥ ५२ ॥
नाडीजलोदरधातुगतदोषविनाशनम् ॥ ५३ ॥

शिष्य—इसके सिवाय कभी मुख से, कभी नाक से, पूरक होकर कुम्भक होता है; इसके बाद जालन्धरबन्ध होकर धीरे २ नाक से रेचन होता है। इस समय मन जैसे भ्रू में स्थित होवे ऐसा और अच्छा आराम बोध होता है।

गुरु—इस कुम्भक द्वारा मन शीघ्र ही मूर्च्छा (लय) को प्राप्त होता है। इसीलिए इसे मूर्च्छाकुम्भक कहते हैं। हठयोग-प्रदीपिका, अ० २, में लिखा है:—

पूरकान्ते गाढ़तरं बध्वा जालंधरं शनैः
रेचयेन्मूर्च्छनाख्येयं मनोमूर्च्छा सुखप्रदा ॥ ६९ ॥

शिवसंहिता में लिखा है:—

सुखेन कुम्भकं कृत्वा मनश्च भ्रुवोरन्तरम् ।
संत्यज्य विषयान्सर्वान्मनोमूर्च्छा सुखप्रदा ॥

शिष्य—किसी समय नासिका से प्राणवायु बाहर निकलकर (रेचक होकर) बाह्यवायु में ही कुछ समय तक स्थिर रहता है (अर्थात् वहिःकुम्भक होता है और फिर पीछे से पूरक होता है)।

गुरु—वत्स, इसे वाह्यकुम्भक कहते हैं। योगवाशिष्ठ में लिखा है:—

वाहर में प्राणवायु के शांत होनेपर जवतक अपानवायु उसे खींचकर भीतर नहीं लाता तवतक की पूर्ण समता अवस्था को वाह्य कुंभक कहते हैं। इस कुंभक से प्राणवायु स्थिर होकर शक्ति क्रमशः ऊर्ध्वगामी होती है और चक्रसमूहों का भेदन करके मस्तिष्क के भीतर ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करती है; जिससे योगी की समाधि होती है।

शिष्य—गुरुदेव! किसी २ समय साधना में बैठ कुछ क्षण जप करने से ही बोध होता है कि जैसे प्राणवायु स्थिर हो गया है और रेचक या पूरक कुछ नहीं होता है। इससे ऐसा आराम मालूम होता है कि उसका वर्णन या तुलना नहीं हो सकती। यह कैसा कुंभक है?

गुरु—हे वत्स! इस रेचक पूरक रहित कुंभक को केवल कुंभक कहते हैं। जितने कुंभक के प्रकार हैं उनमें यह श्रेष्ठ है। श्रीगुरुकृपा से प्राणवायु के सुषुम्णा में प्रवेश करनेपर यह केवल कुम्भक फिर फिरकर होता रहता है।

याज्ञवल्क्यसंहिता में कहा है कि केवल कुंभक सिद्ध होनेपर फिर त्रैलोक्य में कुछ भी दुष्प्राप्य नहीं है।

रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ।
प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुंभकः ।।
केवले कुंभके सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ।
न तस्य दुर्ल्लभं किंचित् त्रिपु लोकेपु विद्यते ।।

अभ्यासद्वारा केवल कुंभक धीरे २ लंबे कालतक का हो सकता है और प्राणवायु इड़ा और पिंगला को छोड़ सुषुम्णा में चलता है। इस कुंभक के सिद्ध होनेपर सर्व इंद्रियवृत्तियां शून्यता को प्राप्त होती हैं, और प्राण परम-पद में विलीन होकर समाधि उपस्थित होती है।

शिष्य—गुरुदेव ! आपकी कृपा से नाना प्रकार के प्राणायामादिकों के नाम और उपयोग मालूम हुए, जिससे वहुत आनंद प्राप्त हुआ। अब आपके चरणों में दूसरे अनुभवों के संवंध में कुछ निवेदन करता हूँ।

गुरु—वत्स ! तुम्हें जो कुछ कहना हो मुक्त रीति से कहो।

शिष्य—पिता ! साधन करते २ कभी २ चिन् चिन् शब्द और कभी २ दूर की घंटाध्वनि का शब्द, ऐसे और नाना प्रकार के शब्द सुन पड़ते हैं। ये क्या हैं ?

गुरु—ऐसे शब्दों को ही 'अनाहत नाद' कहते हैं। यह विना आघात (या चोट) के होता है। इसलिए इसे अनाहत नाद कहा है। इस अनाहत नाद की अभिव्यक्ति (प्रगट होना) दश प्रकार की है। हंसोपनिषद में लिखा है:—

चिणीति प्रथमः । चिंचिणीति द्वितीयः । घंटानादस्तृतीयः । शंखनादश्चतुर्थः । पंचमस्तंत्रीनादः । पष्ठस्तालनादः । सप्तमो वेणुनादः । अष्टमो मृदङ्गनादः । नवमो भेरीनादः । दशमो मेघनादः ।

यह अनाहत नाद ही शब्द ब्रह्म है। योगशिखोपनिषद्में लिखा है, नास्तिनादात्परो मंत्रः, अर्थात् नादकी अपेक्षा दूसरा कोई श्रेष्ठ मंत्र नहीं है।

किसी २ को इस नादके अनुसंधानसे ही समाधिका लाभ होता है। अकेले इस नादमें मन संयम करनेसे नादके परे जा सकते हैं, क्योंकि—

मनसो लये द्वैतनिवृत्तिः (हठयोग प्र०)

अर्थात् मनके लय होनेसे अद्वैतस्वरूपमें स्थिति होती है और द्वैतकी निवृत्ति होती है। श्रीमत् शंकराचार्य इस नादानुसधान-लयको ही लययोग समूहमें श्रेष्ठ कहकर उसकी तारीफ़ करते हैं।

शिष्य—पिता ! जप करते २ कभी २ सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, ज्योतिविन्दु चन्द्र समान प्रकाश, दीपशिखा, और कभी २ विद्युत्, स्फटिक, धूम नीहार (कुहरा) के दर्शन होते हैं। ये सब क्या हैं और क्यों दिखते हैं ?

गुरु—वत्स, जैसे वाह्याकाश है वैसे ही हृदयांतरवर्ती आकाश भी है। साधनाद्वारा मनके अन्तर्मुखी होनेपर अन्तराकाशस्थ अग्नि, सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, विद्युत् और नीहारादि अन्तश्चक्षुके गोचर होते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है—

यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदयआकाश, उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते, उभावग्निश्च, वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्चनास्ति सर्वं तस्मिन् समाहितमिति।

अर्थ—वाह्याकाश जैसा है वैसाही हृद्स्थ अन्तराकाश भी है। (वहिराकाश और अन्तराकाश) इन दोनोंके बीचमें ही स्वर्गलोक और पृथ्वीलोक रहे हैं। दोनोंके बीचमें ही अग्नि

और वायु, सूर्य और चन्द्र, दोनोंके बीचमें ही विद्युत्, नक्षत्र-पुंज स्थित हैं। इस (वहिराकाश) में जो कुछ अस्ति और नास्तिरूपसे अनुभव होता है वही सब अन्तराकाशमें भी वैसा ही है।

हे वत्स! अन्तराकाशस्थ ये दृश्य साधन काल में प्रत्यक्ष होते हैं। इन चिन्हों के प्रत्यक्ष होने से समझ लेना चाहिये कि मन क्रमशः परतत्व की प्राप्ति की ओर बढ़ रहा है। योगशिखोपनिषद् में लिखा हैः—

> आत्ममंत्रसदाभ्यासात् परतत्वं प्रकाशते
> तदभिव्यक्तिचिह्नानि सिद्धिद्वाराणि मे श्रृणु ॥ १८ ॥
> दीपज्वालेन्दुखद्योतविद्युन्नक्षत्रभास्वराः ।
> दृश्यते सूक्ष्मरूपेण सदा युक्तस्य योगिनः ॥ १९ अ० २ ॥

अर्थ—गुरु का बताया आत्ममंत्र सदा अभ्यास करते २ परतत्व प्रकाश होता है। उस मंत्रसिद्धि के द्वाररूप उस (परतत्व) के प्रगट होने के चिह्नसमूह कहते हैं, सो सुनो। सदायुक्त योगी को (अन्तर्मुखी मनप्रवाह के कारण) दीप, ज्वाला, चन्द्र, जुगनू (खद्योत), विद्युत्, नक्षत्र, और सूर्य ये सब सूक्ष्मरूप से दिखते हैं।

श्वेताश्वतर उपनिषद्, अ० २, में लिखा हैः—

> नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशिनाम्
> एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे॥ ११॥

अर्थ—योगसाधन काल में नीहार (कुहरा), धूम (धुआं), सूर्य, अग्नि, वायु, जुगनू (खद्योत), विद्युत, स्फटिक और चन्द्र के समान रूपसमूह अंतराकाश में दिख पड़ते हैं। ये सब ब्रह्मप्रकाश के पूर्व के चिन्ह हैं।

हे वत्स—इन सब अनुभवोंके हो चुकने पर ही आनन्दमें न अटककर सब संकल्प परित्यागपूर्वक, लक्ष्यमें मन स्थिर रख, धीरतासे साधन करते जाना चाहिये। "हम" इस बुद्धिका जहां आश्रय है वह चैतन्य स्वरूप आत्मा ही तुम्हारा लक्ष्य है। लक्ष्यमें पहुँचने पर्यन्त घड़ीके कांटा की नांई बराबर चलते रहना चाहिये। जैसे मच्छी पकड़नेके लिए बंसी डालकर ऊपरके हलके तरते निशान प्रति एकाग्र दृष्टि रखनी पड़ती है और आसपासकी छोटी-छोटी मच्छियों की ओर दृष्टि न कर निशानके प्रति दृष्टि स्थिर रहती है कि कहीं पीछेसे मछली चारा (bait) को खाकर चली न जावे, उसी प्रकार तुम भी साधनाकाल में जो सब विभूतियां प्रगट हों उनमें मन न लगाकर, अर्थात् उनके दर्शनसे आनन्दमें अधीर न होकर, उद्देश्यसिद्धि न होते तक मनको सदा लक्ष्य में स्थिर रखना। योगी का लक्ष्य निर्विकल्प समाधियोग में, अखंड चैतन्य में, मनका लय करना है। लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद ये चार निर्विकल्प-समाधिलाभ के अंतराय (रुकावट-बाधा) हैं। इस अंतरायसमूह के उपस्थित होनेपर उनको दूर करने के लिए तुम्हें प्रयत्न करना चाहिये।

शिष्य—गुरुदेव, लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद किन्हें कहते हैं और उन्हें दूर करने के क्या उपाय हैं, यह आप हमें बताइये।

गुरु—वत्स! बताते हैं, ध्यान से सुनो। हमारे उपदेशानुसार इन अन्तरायों के नाश की चेष्टा करने से तुम शांति पा सकोगे।

(१) लय नामक विघ्न—समाधि की इच्छा कर साधन करने पर यदि मन अखंड ब्रह्म या आत्मतत्वका अवलम्बन

करने में असमर्थ होकर निद्रित हो जावे तो उसको लय नामक विघ्न कहते हैं। ऐसी अवस्था होने से चित्त को जड़ता और आलस्य से जगाने के लिए कुछ क्षण खड़े होकर जप करना चाहिये या नाम कीर्तनादि जोर से बोलकर भी कर सकते हैं।

(२) विक्षेप नामक विघ्न—समाधि प्राप्त करने की इच्छा से बैठने पर मन अखंड ब्रह्म या आत्म वस्तु का अवलंबन न कर सके और दूसरी कोई तुच्छ वस्तुका अवलंबन करके उसी की चिन्ता करने लगे तो उसे विक्षेप नामक विघ्न कहते हैं। ऐसे विघ्न के आनेपर मन जिस तुच्छ वस्तु में आकर्षित हुआ है वहां से उसे खींच फिर आत्मचिंता में लगाना चाहिये। गीता में लिखा है:—

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत ।। २६ ।। अ० ६ ।

अर्थ—स्वभावगत चंचलताप्रयुक्त मन जिस २ विषय में दौड़े उस २ विषय से खींचकर, आत्मा को छोड़ सब मिथ्या है, ऐसी चिन्ता द्वारा उसे आत्मा में स्थिर करे।

(३) कषाय नामक विघ्न—समाधि की इच्छा से बैठनेपर लय और विक्षेप इन दोनों के अभाव के लिए (अर्थात् लय और विक्षेप न होने के लिए) मन रागादि वासना द्वारा खिचकर स्तब्धता को प्राप्त होता है। इसे कषाय विघ्न कहते हैं। इस विघ्न के आनेपर कुछ क्षण के लिए साधना बंद करके स्तोत्रपाठ वा गाना वगैरा करना चाहिये। इन सब कार्यों से मन शांत भाव को प्राप्त होकर फिर ध्यानादि में लग जावेगा।

(४) रसास्वादन विघ्न—साधनाद्वारा मन की एकाग्रता उत्पन्न होने से आनन्द का अनुभव होता है। तब सविकल्प आनन्दरस के संभोग में मन चंचल होना चाहता है। यही रसास्वाद नामक विघ्न है। इस अवस्था के आने पर यह विचारे कि यह आनन्द निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न सुख की तुलना में बहुत तुच्छ है और ऐसा मन में निश्चय करके उस रसभोग में अनासक्त होवे। गीता में लिखा है:—

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमास्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः ॥१९॥ अ० ६।

अर्थ—जैसे निर्वात स्थान में रखी हुई दीपकज्योति हिलती नहीं है वैसे ही एकाग्र चित्त योगी का मन विषयान्तर संसर्ग के अभाव के कारण जरा भी विचलित नहीं होता। सदा ही निश्चल भाव से आत्मा में स्थिर रहता है।

हे वत्स ! इस प्रकार आत्मस्थितिके कारण जो परमानंद लाभ होता है उसकी तुलना में योगीके निकट स्वर्गादि सुख भोग, अष्टसिद्धि, और षट् ऐश्वर्यादि तुच्छाति तुच्छ मालूम होते हैं। इस प्रकारकी आत्मसमाहित अवस्था में योगी शीत, उष्ण, अस्त्रादि द्वारा घावसे उत्पन्न दुःख, और मच्छड काटना आदि उपद्रवोंका अनुभव नहीं करपाता। श्री गीतामें लिखा है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ॥२३॥ अ० ६ ॥

अर्थ—जिस अवस्थाको प्राप्त करके योगी अन्य सब लाभोंको उससे बढ़कर नहीं मानता, जिस अवस्थामें स्थित

होकर वड़े दुःख से भी चलायमान नहीं होता, उस दुःखसंयोग की वियोगरूपी अवस्थाको योग कहते हैं।

शिष्य—दयामय गुरुदेव! श्रीचरणों में और भी कई एक विषय निवेदन करने को हैं।

गुरु—अच्छा जो तुम्हें कहना है कहो।

शिष्य—एक दिन साधन करते २ देखा कि सामने एक वड़ा आइना है। उसमें जैसे हमारी छाया पड़ी हुई प्रतीत हुई। वास्तवमें सन्मुखमें आइना है या नहीं, ऐसा संशय होने से आँखों को वंदकरके फिर उघाड़कर देखा तो सामने आइना वगैरह कुछ नहीं था। एक दिन और हमारी छाया हमको देख पड़ी थी किन्तु इस वार पूर्वके समान आइनामें नहीं थी। यह क्या था?

गुरु—इसे स्वप्रतीकदर्शन कहते हैं। इस दर्शनका फल शिवसंहितामें इस प्रकार कहा है।

पुनाति दर्शनादत्र नात्र कार्या विचारणा।

अर्थ—इसके दर्शनमात्र से शरीर पवित्र होता है। इसमें कोई संशय न करना चाहिये।

हे पुत्र! तुम भाग्यवान् हो। तुम्हें इन अनुभवों के कारण अव अलग और कोई अनुष्ठान न करना पड़ेगा। केवल गुरुशक्ति के प्रताप से आप से आप ये सव होते जावेंगे। इस स्वप्रतीकदर्शन करने के लिए जो साधना शिवसंहितामें वताई है वह तुम्हें सुनाते हैं; श्रवण करो। कड़ी धूपमें सूर्य किरणों से बनी हमारी स्थूल देह की छाया को निश्चल चक्षु से थोडी देर देखकर फिर आकाशमें देखनेसे वहां भी हमारी छाया दिखती है। हे वत्स! कुछ दिन ऐसा अभ्यास करने पर फिर अपनी मूर्त्ति या छाया में अंग प्रत्यंगादि वहुत

स्पष्ट रीतिसे दिख पडेंगे। शिव कहते हैं कि जो प्रतिदिन अपनी प्रतीक या छाया का दर्शन करेंगे उनकी परमायु बढ़ जायगी। वे सिद्धि प्राप्त करेंगे और वायुको अपने वशमें लाकर विचरण कर सकेंगे। जो इस अभ्यास को सर्वदा करेंगे वे अपनी छाया के अनुग्रहसे पूर्णानन्दस्वरूप परमात्मा को प्राप्त करेंगे। इससे आगे अपने अन्तरमें ही अपनी छाया का दर्शन होता है। यह निश्चय जानना।

शिष्य—गुरुदेव! आपके श्रीमुखसे निकली यह सब कथा सुनकर परम प्रीतिलाभ होता है। जितनी अधिक कथा गुरु-शक्तिकी सुनने को मिलती है उतना ही विशेष आनंद होता है। सद्गुरुकी कृपासे क्या नहीं हो सकता! वराहोपनिषद्में कहा है:—

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥५६॥ अ० २।

अर्थ—सद्गुरु की कृपा विना विषयत्याग, तत्वदर्शन और सहजावस्था ये तीनों दुर्लभ हैं।

गुरु—हे वत्स! यह अति ध्रुवसत्य है। सद्गुरु की कृपा न होनेसे विषयासक्तित्याग, अखंड आत्मवस्तु का साक्षात्कार और सहजावस्था अर्थात् जीवनमुक्ति प्राप्त नहीं होतीं। सद्गुरुकी कृपा से जिसे चित्शक्तिस्वरूपिणी कुंडलिनी शक्ति का जागरण और तत्वज्ञानलाभ और कर्मों का संपूर्णक्षय प्राप्त होते हैं उस योगी को आप से आप यह अत्युत्तम सुखस्वरूप सहजावस्था लाभ होती है।* इसप्रकार की

---

* उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः।
योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रकाशते ॥७७॥वराहउप० अ० २।
हठयोगप्र. ४-११।

सहजावस्था को प्राप्तहुए योगी को सुखदुःखादि का बोध नहीं होता। वह सदा परमानंद स्वरूपमें मग्न रहता है। वह ही कैवल्याश्रमी कहाता है।

प्राणे गते यथा देहः सुखं दुःखं न विन्दति।
तथा चेत् प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रमे वसेत्॥

अर्थ—जैसे प्राणके निकल जानेपर देहको सुखदुःख का भान नहीं रहता, वैसेही देहमें प्राणके बने रहनेपर सुख-दुःखका भान जिसे न होवे, वह ही कैवल्याश्रममें वास कर सकता है।

शिष्य—हे पिता! साधन करते समयमें यदि किसी मंत्रका लाभ होवे तो क्या उसका जप करना चाहिये? या उसे न लेकर आपके दिये हुए मंत्रका ही जप करते रहना चाहिये? आप कृपाकर हमें एक बात निश्चयपूर्वक कह दीजिये। आप जैसा बतावेंगे वैसा ही मैं करूंगा।

गुरु—वत्स! साधना समयमें तुम्हें मंत्र कैसे मिला सो कहो, पीछे तुम्हें इस विषयका उपदेश देवेंगे।

शिष्य—(१) हे पिता! मैं एक दिन रात्रिके अनुमान ४ बजे* साधना करता था। साधना करते २ मुझे योगनिद्रा आ गई। उस योगनिद्रावस्थामें मैं देखता हूं कि मेरे सन्मुख एक नग्न परमहंस साधु खड़े हैं। उनकी मूर्ति अति प्रफुल्ल है। अधरमें मृदु मधुर मुस्क्यान है और मस्तक मुंडित है। मेरे तरफ वे दृष्टि लगा देखते हैं और हंसते हैं। अहा! उनकी वह करुणदृष्टि अभी भी याद आनेपर मेरे मन और प्राण

---

* इस समय में साधना करने से कभी २ मुक्तपुरुष का दर्शन होता है।

आनंदित हो उठते हैं। वे हँसते २ मेरे निकट आये। मेरे मस्तकके ऊपर हाथ रखकर उनने एक मंत्रका उच्चारण किया। और कुछ क्षण मस्तकपर हाथ रखे ही रहे। अहा गुरुदेव! तब जिस आनंदका अनुभव हुआ उसे समझाने के लिये मेरे पास शब्द नहीं हैं। उस समय ऐसा बोध होने लगा कि मेरे शरीर से एक शक्ति क्रमशः ऊपरको उठरही है और फिर वह सहस्रारको भेदकरके अंगुष्ठाकार ज्योतिरूप ऊपर ऊपर उठती चंद्रसूर्य के भी ऊपर उठने लगी। तब उस ज्योतिसे मेरा एकत्व बोध होता था अर्थात् ऐसा बोध होता था कि मैं वह ज्योति हूं। इस स्थूल शरीरका तब भान न था। इस प्रकार मैं एक ऐसे स्थान को गया जहां न तो ज्योति है न अंधकार है; तब ऐसा बोध होने लगा कि थोडा और आगे जानेसे मेरी अहंबुद्धि छूट जायगी। उस समय यह भय लगा कि यदि यह हमारी अहंबुद्धि न रही तो फिर जीनेसे क्या लाभ। तब मालूम पड़ता था कि यही हमारा शेष निर्वाण है। मनमें यह विचार आने से और भय से कंपित होने से मैं जाग उठा। उस समय प्रायः भोर हो गया था; सो मैं उठकर प्रातःकृत्यादि करने लगा। पर मेरे मन में एक यह भाव जन्म गया था कि मैं इस स्थूल देह से बिलकुल भिन्न हूं। यह भाव दिन के १० या ११ बजे तक रहा। खाने पीने के पश्चात् पीछे से फिर देहात्मबोध होने लगा।

(२) हे पिता! एक दिन और गर्मी के समय दिन को मैं खापीकर शवासन से सोकर जप करता था। जप करते २ गाढ़ तंद्रा आ गई और मैं देखता हूं कि एक श्वेत बाल और श्वेत दाढ़ी मूंछवाले गौरवर्ण जानुपर्यंत लंबे भुजावाले दीर्घकाय एक महापुरुष मेरे सन्मुख खड़े हैं। वे मुझसे कुछ न बोले पर मेरे दक्षिण कानमें एक एक करके एक बीज मंत्र

बोले और साथ २ कानमें फूँकते गये। तब मेरे शरीरमें अत्यन्त आनन्द बोध होने लगा और मन में ऐसा होने लगा कि यदि मुझ में और शक्ति का प्रयोग करेंगे तो मेरा शरीर टूट जायगा और कुछ बाहर निकल पड़ेगा। उसे सहन न कर सकने से शिर जोर से पीछे हटा दिया और उसके साथ २ मैं जाग गया।*

गुरु—वत्स तुम्हारे ये दो अनुभव सुनकर हम सुखी हुए। तुम अत्यंत गुरुभक्त हो उस से जगद्गुरु ने साधु रूपमें आकर तुम पर अहैतुकी कृपा की। हे वत्स! यह याद रखना कि साधु, गुरु और ईश्वर ये तीनों एक ही हैं। जो मंत्र तुम्हें स्वप्नमें मिले हैं सो किसी को बताना नहीं, यह याद रखना। किन्तु निरंतर शक्तिपुटित गुरुदत्त मंत्र का ही श्वास प्रश्वास से जपादिक करना यही तुम्हारी साधना का विषय है। इसी की कृपा से तो ये सब अनुभव हुए हैं। इस महापुरुषप्रदत्त मंत्रादि को इच्छा होने से १०८ बार जप कर सकते हो। इसमें कोई उजर नहीं है।

वत्स! तुमने जो अंगुष्ठमात्र ज्योति अपने शरीर से ऊपर को उठती देखी वह तुम्हारी अन्तरात्मा है। कठ-उपनिषद्में लिखा है:—

> अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुंजादिवेषीकांधैर्येण ॥ तंविद्याच्छुक्रममृतं तंविद्याच्छुक्रममृतमिति ॥१७॥ अ० २ व० ६।

अर्थ—अंगुष्ठ बराबर अन्तरात्मा पुरुष सर्वदा (जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, तीनों अवस्थाओं में) प्राणिगणों के हृदयमें

---

* इन महापुरुष का पता मिला है। इस घटना के कई वर्ष पीछे उनने देहत्याग किया।

वास करता है। जैसे मुंजतृण में से भीतर का कोमलतृण बाहर खींच लेते हैं वैसे ही धैर्यसे निज शरीर से इस पुरुषको (गुरूपदेशानुसार) पृथक् कर लेना चाहिये। उसे ही शुद्ध (शोकमोहादि दोषरहित) और अमृत (नित्य) जानना चाहिये। और भी उसी कठमें:—

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्च स एवाद्य सउश्वः एतद्वै तत्॥१३॥ २-४।

अर्थ—वह अंगुष्ठ मात्र पुरुष धूम रहित ज्योति के समान है। वह भूत भविष्य और वर्तमान तीनों कालों का स्वामी है। वह आज भी विद्यमान है और कल भी विद्यमान रहेगा। इसीको परमात्मा कहते हैं।

हे वत्स, जैसे ठाठके छोटे छिद्र में से सूर्य का प्रकाश गृह की दीवाल पर गिरता है और उस प्रकाशके सहारे उस छिद्रमें से आकाश दिख पड़ता है वैसे ही अंगुष्ठ बराबर हृदयरूप उपाधिद्वारा उपहित (ढंके) चैतन्यको अंगुष्ठबराबर पुरुष के आकारमें अनुभव किया जाता है।

शिष्य—गुरुदेव! एक दिन बड़े सवेरे (ब्रह्ममुहूर्त में) बैठकर मैं ध्यान करता था; ध्यान करते २ मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि प्रभातकालीन सूर्यके समान मैं भी किरणजालसे घिरा हुआ सूर्यमंडलाकार हूं। मेरा यह जो स्थूल देह अभी है ऐसा भान उस समय नहीं होता था, अर्थात् जैसे स्थूलशरीरमें मैं "हम" भाव अभी बोध करता हूं ऐसे मुझे उस सारे मंडल में अहंकार का बोध होता था। पर जब मेरा मन बहिर्मुखी हुआ तब मनमें स्वभावतः ही ज्ञान हुआ कि मैं परमात्मारूपी सूर्य हूं और जीव उस परमात्मारूपी सूर्य की किरण हैं। जैसे सूर्य और उसकी किरणमें वास्तवमें भेद नहीं है, वैसे ही जीवात्मा

और परमात्मा में भेद नहीं है। जीवरूपी रश्मियों की समष्टि ही परमात्मारूपी सूर्य है।

गुरु—वत्स ! तुम्हारा यह अनुभव बहुत उत्तम है। इस भावका सदा स्मरण रखना। वास्तवमें जीवरूपी वही है। उसके सिवाय और कुछ नहीं है, अर्थात् केवल वही (परमात्मा) ही है। तुम्हारा "हम" भी वही है। अथवा तुम्हारा उपास्य भी वही है जो तुम्हारा "हम" है।

उस वस्तु को प्राप्त करने के मार्ग भिन्न २ होने पर भी वह वस्तु वास्तव में एक ही है। योगी चित्तवृत्ति निरोधरूप समाधियोग में, और ज्ञानी, नेति नेति विचार में, इस "हम" को ही परमात्मा और ब्रह्मरूपसे ; भक्त भक्तियोगमें उसी को षड्‌ऐश्वर्ययुक्त भगवानरूप से, प्राप्त करते हैं। भेद केवल वाक्यों में है ; वस्तु में कोई भेद नहीं है।

दशम अध्याय

शिष्य—गुरुदेव! आप के कथामृत के पान करने से तृषा मिटती नहीं है; केवल पान करने की इच्छा ही बढ़ती है। इसलिए आज प्रार्थना करता हूं कि आप कृपा कर के देहतत्व के विषय में कुछ उपदेश करें।

गुरु—हे वत्स! तुम अच्छा विषय जानना चाहते हो। आत्मतत्व जानने के लिए योगसाधक को देहतत्व का, प्राणादिक की शक्ति और क्रिया का, प्राणप्रवाहिनी नाड़ियों और चक्रादिकों का ज्ञान प्राप्त कर लेना बहुत आवश्यक है। हम तुम को इन सब बातों का उपदेश करते हैं, सुनो। जहां न समझो या कुछ पूछने की इच्छा होवे, वहां पूछ कर उसे जान लेना।

हे वत्स! 'देह' शब्द से साधारणतः हम लोगों को अपनी स्थूलदेह का भान होता है। पर केवल यह एक देह ही हमें नहीं है। यह बात आगे समझ में आ जावेगी। अभी देह शब्द की व्युत्पत्ति समझनी चाहिये। जगद्गुरु श्रीमत् शंकराचार्य 'दह्' धातु से देह शब्द की उत्पत्ति बताकर "दग्ध होने के कारण उसे देह कहते हैं" ऐसा अर्थ करते हैं:—

दह् भस्मीकरणे इति व्युत्पत्त्या च देहो भस्मीभावं प्राप्नोतीत्यर्थः।"

(आत्मानात्मविवेक)

मृत्यु होनेपर दाह होने के कारण जो भस्मीभाव को प्राप्त होती है उसे देह कहते हैं। साधारण अज्ञानी मनुष्य कदाचित् अपने मनमें यह समझें कि मनुष्य के मरजाने पर उसे जला देनेसे सब शेष हो गया, परन्तु ऐसा नहीं है। इसलिए जिसका दाह करते हैं वही देह है।

असल वस्तु जो आत्मा है वह तो देह से भिन्न है, अक्षय-अमर-नित्य वस्तु है। उसे कोई दग्ध नहीं कर सकता है—"नैनं दहति पावकः" (गीता)

इसके सिवाय आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ये त्रितापरूपी ज्वालाओं से सूक्ष्म देह (मन) सदैव दग्ध होता रहता है। इस प्रकार स्थूल और सूक्ष्म दोनों देहें दग्ध होती हैं इस कारण देह कहाती हैं। इनके शीर्ण (सूखने से क्षीण) होने के कारण इन्हें शरीर कहते हैं—"शीर्यंते इति शरीरः।"

शिष्य—हे पिता! आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक, ये त्रिताप क्या हैं? मुझे समझा दीजिये।

गुरु—शरीर, इन्द्रिय और मन आत्म-(निज)-संबंधीय होने के कारण उनको आत्मा वा 'अध्यात्म' कहते हैं। इस कारण वहां से जो दुःख उत्पन्न होता है उसे 'आध्यात्मिक ताप' कहते हैं। यह दो प्रकार का है, शारीरिक और मानसिक। वायु पित्त और कफ, इनके वैषम्य होने से जो दुःख वा ताप उत्पन्न हो वह शारीरिक दुःख कहाता है, और काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, विषण्णता (उदासी) और विशेष विषय की अप्राप्ति से उत्पन्न हुआ दुःख मानसिक ताप कहाता है।

'भूत' शब्द से प्राणिमात्र और पृथ्वी आदि पांच महाभूतों का बोध होता है; इसलिए इन भूतों से अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी, पेट से रेंगनेवाले इत्यादि प्राणियों से और भूमि, जल इत्यादि तत्वों से जो दुःख उत्पन्न होता है उसे आधिभौतिक ताप कहते हैं। यक्ष, राक्षस, विनायक प्रभृति विघ्नकारी देवयोनि और शनि आदि ग्रहोंके आवेश या

दृष्टि से जो दुःख उत्पन्न होता है उसे आधिदैविक ताप कहते हैं।

शिष्य—गुरुदेव ! सूक्ष्म देहके अवयव क्या हैं ?

गुरु—हे वत्स ! सूक्ष्म देहके सत्तरह अवयव हैं। १७ अवयव ये हैं :—पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चप्राण, और मन तथा बुद्धिरूपी दो अन्तःकरण। चित्तको मनके अन्तर्गत तथा अहङ्कार को बुद्धिके अन्तर्गत होनेके कारण चित्त और अहङ्कार की स्वतन्त्र गणना नहीं होती।

पञ्चज्ञानेन्द्रिय—चक्षु, कर्ण, नासिका, जिव्हा और त्वक् (१) जो चक्षुगोलक नहीं है और चक्षुगोलक में रहकर काली पुतली का तारा सन्मुखवर्ती रूपका ग्रहण करने में समर्थ है वही रूप ग्रहण करने में समर्थ वस्तु ही चक्षु इन्द्रिय है; चक्षु के अधिपति देवता सूर्य हैं। (२) जो कर्णरन्ध्र नहीं है और कर्णरन्ध्र का आश्रय करके आकाशस्थ शब्द ग्रहण करता है उसे कर्ण या श्रोत्रेन्द्रिय कहते हैं; इसका अधिपति देवता दिक् है। (३) जो नासारन्ध्र नहीं है पर नासारन्ध्र का आश्रय करके गन्ध ग्रहण करता है उसे नासिका या घ्राणेन्द्रिय कहते हैं; इसके अधिपति देवता अश्विनीकुमार हैं। (४) जो जिव्हा नामक मांसपिण्ड नहीं है पर इस मांसपिण्ड का आश्रय करके उसमें लगी वस्तु का रस जो ग्रहण करती है उसे जिव्हा या रसनेन्द्रिय कहते हैं; इसके अधिपति देवता वरुण हैं। (५) जो त्वक् (चर्म) नहीं है पर त्वक् का आश्रय करके पांव से मस्तक तक शीतोष्णादि स्पर्शानुभव करती है उसे त्वगिन्द्रिय या स्पर्शेन्द्रिय कहते हैं; इसका अधिपति देवता वायु है।

पञ्चकर्मेन्द्रिय—वाक्, पाणि (हस्त), पाद, पायु और उपस्थ। (१) जो वाक् यन्त्र से भिन्न है पर वाक् यन्त्र का आश्रय करके हृदय, कण्ठ, शिर, ऊर्ध्व ओष्ठ, अधर ओष्ठ, तालु द्वय और जिव्हा इन अष्ट स्थानवर्ती शब्दोच्चारण करने में समर्थ है उसे वागिन्द्रिय कहते हैं। इसका अधिपति देवता अग्नि है। (२) जो हस्त से भिन्न है पर हस्ततल का आश्रय करके दान और आदान (ग्रहण) करने में समर्थ है उसे पाणीन्द्रिय कहते हैं, इसका अधिपति देवता इन्द्र है। (३) जो पांव नहीं है पर जो पांव का आश्रय करके गमनागमन में समर्थ है उसे पादेन्द्रिय कहते हैं; इसका अधिपति देवता उपेन्द्र है। जो पायुछिद्र से भिन्न है पर जो पायुगह्वर का आश्रय करके पुरीष (मल) के परित्याग करने में समर्थ होता है उसे पायु या गुह्येन्द्रिय कहते हैं; उसका अधिपति देवता यम है। (५) जो उपस्थनाल से भिन्न है पर उपस्थनाल का आश्रय करके मूत्र और शुक्र के त्याग करने में समर्थ होती है उसे उपस्थेन्द्रिय कहते हैं, इसका अधिपति देवता प्रजापति है।

पंचप्राण—प्राण, अपान, समान, उदान, और व्यान, ये पांच वायु हैं। प्राण हृदय में, अपान गुदा में, समान नाभि में और उदान कंठदेश में और व्यान सारे शरीर में व्याप्त होकर कार्य करते हैं। प्राण वहिर्गमनशील, अपान अधोगमनशील, उदान ऊर्ध्वगमनशील, समान भुक्त अन्नादि के समीकरणशील (यह भोजन किये अन्नादि को परिपाक कर एकजातीय बनाता है), और व्यान सर्व शरीर में गमनशील (यह समान वायु द्वारा समीकृत अन्नादि रस को सब शरीर में वितरण करता है) है। इन प्रधान पांच वायुओं के अन्तर्गत

नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय पांच उपवायु हैं। नागवायु उद्गार करने में अर्थात् डकार लेने में, कूर्मवायु उन्मीलन अर्थात् आंख के पलक खोलने में, कृकरवायु थूकने में, देवदत्तवायु जंभाई लेने में, और धनंजयवायु देह के पोषण करने में कार्यवान् होते हैं।

अन्तःकरणद्वय—मन और बुद्धि। मन संकल्प-विकल्पात्मक है और बुद्धि निश्चय करनेवाली होती है। कोई २ चित्त और अहंकार की स्वतंत्र गणना करके अन्तःकरण चतुष्टय कहते हैं। चित्त अनुसंधानात्मक और अहंकार अभिमानात्मक होते हैं। चित्त का कार्य चिंता करना है और अहं अर्थात् हम इस भाव का करनेवाला अहंकार माना जाता है। मनका अधिपति चन्द्र है और बुद्धि का अधिपति ब्रह्मा है। चित्त का अधिपति अच्युत और अहंकार का अधिपति शङ्कर है।

हे वत्स, इन स्थूल और सूक्ष्म देह से परे एक और श्रेष्ठ देह है जिसे कारण देह कहते हैं।

शिष्य—गुरुदेव! स्थूल, सूक्ष्म, और कारण देह के भेद मुझे अच्छी तरह समझा दीजिये।

गुरु—हे वत्स! मैं समझाता हूँ; सावधान चित्त से सुनो।

यह त्रिविध देह पंचकोषों में विभक्त है; अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष, और आनन्दमय कोष। यही स्थूल देह अन्नमय कोष है और कारण देह आनन्दमय कोष है, और सूक्ष्मदेह प्राणमय, मनोमय, और विज्ञानमय इन तीन कोषों में विभक्त है। (१) यही स्थूल देह अन्नमय कोष है क्योंकि पिता और माता का खाया अन्न ही शुक्र और रज में परिणत होता है और पिता के शुक्र और

माता के रज के संयोग से संतान का स्थूल देह उत्पन्न होता है। इसीलिए अन्न के विकार इस स्थूलदेह को अन्नमय कोष कहते हैं। जैसे तलवार का कोष या म्यान तलवार को, जैसे तुष या धान का छिलका भीतर के चावल को, और गर्भ की झिल्ली (जरायु) अपने भीतर के भ्रूण या गर्भ को ढांक कर रखती है उसी प्रकार यह अन्नमय कोष आत्मा को ढांककर रखे हुए है। इस अन्नमय कोष के आत्मा को ढांक लेनेके कारण अपरिच्छिन्न (अविभक्त) आत्मा परिच्छिन्न या विभक्त और अलग २ हुआ, षड्विकाररहित आत्मा षड्विकारयुक्त,* तथा तापत्रयरहित आत्मा तापत्रययुक्त कहा जाता है। (२) पंचकर्मेन्द्रिय और पंचप्राण मिलकर प्राणमय कोष कहाता है। प्राण का विकार रूप यही कोष आत्मस्वरूप को आच्छादित (ढांक) कर वक्तृतारहित आत्मा को वक्ता, दातृत्वरहितआत्मा को दाता, गतिरहित आत्मा को गतिशील और क्षुधापिपासा रहित आत्मा को क्षुधापिपासायुक्त, इस प्रकार नाना प्रकार से निर्विकार आत्मा को विकारयुक्त-सा प्रगट करता है। इस प्राणमयकोष में क्रियाशक्ति वर्तमान होने से यह कार्यरूप होता है। (३) पंचज्ञानेन्द्रिय और मन मिलकर मनोमयकोष होता है। मन का विकार-रूपी यह कोष आत्मस्वरूप को आच्छादित करके संशयरहित आत्मा को संशययुक्त, शोक मोह रहित आत्मा को शोक-मोहादियुक्त और दर्शनादि रहित आत्मा को दर्शनादि का कर्त्तारूप प्रगट करता है। इस मनोमय कोष में इच्छाशक्ति वर्तमान है, इस कारण इसे कारणरूप कहते हैं। (४) पंच ज्ञानेन्द्रिय और बुद्धि मिलकर विज्ञानमय कोष कहा

---

*अस्ति, वृद्धि, जन्म, परिणाम, अपक्षय, नाम, ये छः विकार हैं।

जाता है। विज्ञान या बुद्धि का विकाररूपी यह विज्ञानमय कोष आत्मस्वरूप को आच्छादित करके अकर्त्ता आत्मा को कर्त्ता, अविज्ञाता आत्मा को विज्ञाता, निश्चयरहित आत्मा को निश्चययुक्त, और जाति अभिमान रहित आत्मा को जाति अभिमानयुक्त सा प्रगट करता है। इस विज्ञानमय कोष में अभिमान वर्त्तमान है। कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व, दुःखित्व तथा जाति, कुल, शील इत्यादि का अभिमान ही इस विज्ञानमय कोष का गुण है। इस कारण इसे "अभिमानरूप" कहते हैं। (इन्हीं विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमय कोषों की समष्टि ही १७ अवयवयुक्त सूक्ष्मदेह कहाती है)।

(५) प्रिय, हर्ष, और आमोद वृत्ति युक्त अज्ञानप्रधान अन्तःकरण को ही आनन्दमय कोष कहते हैं। आनन्द का विकाररूपी यह कोष आत्मस्वरूप को आच्छादित करके प्रिय-मोद-प्रमोद रहित आत्मा को प्रिय-मोद-प्रमोदवान् तथा परिच्छिन्नसुखरहित आत्मा को परिच्छिन्नसुखविशिष्ट रूप में प्रगट करता है। यही आनंदमयकोषरूप अज्ञान का आवरण ही जीव का कारणशरीर कहाता है।

शिष्य—गुरुदेव ! आपके उपदेश से त्रिविध देह, उसके विभाग और उपादान (बनने की सामग्री) जान लिये। अब यह जानने की प्रबल इच्छा है कि यह त्रिविध देह किस प्रकार उत्पन्न हुआ है।

गुरु—हे वत्स ! तुम्हारा प्रश्न बहुत अच्छा हुआ है। हम सृष्टिप्रक्रिया बताते हैं। तुम उसे एकाग्रचित्त हो सुनो।

जीव और ब्रह्म के एकत्व-ज्ञान से नाश होनेवाला अनादि अनिर्वचनीय जो अज्ञान है वही इस स्थूल सूक्ष्म दोनों देहों का हेतु है। इस कारण इसीका नाम कारणशरीर है।

इसीसे सृष्टि का भान होता है; यही सब कारणों की कारण परमात्मशक्ति है। यह त्रिगुणात्मक है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में अध्याय १ में लिखा है:—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥३॥

अर्थ—उन ऋषिगणों ने ध्यानस्थ हो परमात्मा के निज प्रकृतिगत सत्व, रज और तमोगुण द्वारा ढंकी, उसकी आत्मभूता चित् शक्ति की उपलब्धि (अनुभव) की है जो अकेली काल, प्रकृति, नियति, आत्मा इत्यादि सकल कारणों का अधिष्ठान करती हुई विराजमान है।

श्रीमद्भगवद्गीता (अ० ७) में भी भगवान् ने कहा है:—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। १४

अर्थ—हमारी यह पारकरने में कठिन दैवी-प्रकृति त्रिगुणमयी।

ब्रह्म और जीव के एकत्व ज्ञान द्वारा यह अज्ञानरूपा प्रकृति नाश को प्राप्त होती है। इस कारण इसको भी "शरीर" कहते हैं; शीर्यते इति शरीरः। आत्मा के शरीर धारण करने का आदि कारण यही है। इसी के रहने से ही सूक्ष्म और स्थूल शरीरों का विकास धीरे २ हो सकता है। इसी कारण यही जीव का कारण शरीर है। यही अज्ञान वा कारणशरीर व्यष्टि और समष्टि भेद से एक और अनेक होता है। अनेक वस्तुओं के एक में मिलजाने को समष्टि कहते हैं और अलग २ एक २ वस्तु को व्यष्टि कहते हैं। जैसे अनेक वृक्षों के समूह को वन (वृक्ष-समष्टि) और अनेक जलों के मिलने को जलाशय (जलसमष्टि) कहते हैं और एक २ वृक्ष और थोड़े २ जल

को यथाक्रम वृक्ष और जल की व्यष्टि कहते हैं वैसे ही नानारूपों में भासमान स्वतन्त्र २ जीवों में व्याप्त जो अज्ञान है सो व्यष्टि है और वही समुदाय रूप से विचारने से समष्टि हो जाता है। यह समष्टिअज्ञान विशुद्धसत्व-प्रधान है। इस विशुद्धसत्वप्रधान समष्टिअज्ञानउपहित (ढँके, उपाधियुक्त) चैतन्य को सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वनियंता, अव्यक्त, अन्तर्यामी और जगत्कारण ईश्वर कहते हैं। ये ही सकल अज्ञान के प्रकाशक हैं। यह समष्टि अज्ञान सब कारणों का हेतु होने से ईश्वर का कारणशरीर है; घने आनन्दमय होने से और कोष के समान आच्छादन करने (ढँकने) से आनन्दमय कोष और स्थूल और सूक्ष्म समष्टि प्रपंच के लयस्थान होने से प्रलय (समष्टि सुषुप्ति) कहा जाता है।

व्यष्टि अज्ञान मलीनसत्वप्रधान होता है। इस व्यष्टि-अज्ञानोपहित (अज्ञान से ढँके) चैतन्य को अल्पज्ञत्व और अनीश्वरत्व के कारण प्राज्ञ (जीव) कहते हैं। यह अस्पष्ट उपाधि और अतिशय प्रकाश के अभाव के कारण व्यष्टि अज्ञान का प्रकाशक है। यह जीवगत व्यष्टि अज्ञान अहङ्कारादिकों के कारणत्व वशतः कारणशरीर, आनन्द प्रचुरत्व और कोषवत् आच्छादकत्व वशतः आनन्दमय कोष, और स्थूल और सूक्ष्म व्यष्टि प्रपंच के लय स्थान होने के कारण व्यष्टि सुषुप्ति कहाता है। वत्स! प्रलय और सुषुप्ति-काल में ये ही ईश्वर और प्राज्ञ चैतन्य-प्रदीप्त अतिसूक्ष्म अज्ञान वृत्ति द्वारा आनन्द का अनुभव करते हैं। इसलिए श्रुति में 'आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञः' कहा है। इसी कारण सुषुप्ति से जगकर व्यक्ति को भान होता है कि मैं सुख से सोया और मुझे कुछ खबर नहीं है।

आवरणशक्ति और विक्षेपशक्ति

वत्स ! इस अज्ञान की ये दो शक्तियां हैं। जैसे छोटासा बादल का टुकड़ा दृष्टि के मार्ग में आकर आंख को ढाँककर विशाल सूर्य मण्डल को नहीं देखने देता और लोक भ्रम से मानने लगते हैं और कहते हैं कि सूर्यमण्डल को ही बादल ने ढांक दिया है इसी प्रकार अपरिछिन्न (अविभक्त) असंसारी आत्मा का अवलोकन करनेवाली जीव की बुद्धि के अज्ञान से ढँकने से आत्मा परिछिन्न और संसारी दृष्टि के समान दिखाता है। चित्सुखाचार्य अपनी तत्वदीपिका में और भगवान् शङ्कराचार्य अपने हस्तामलक नाम ग्रन्थ में कहते हैं :—

घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः।
तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥

अर्थ—जैसे अतिमूढ़ व्यक्ति की दृष्टि मेघ से रुक कर "मेघाच्छन्न सूर्य निस्तेज है" ऐसा मानने लगती है उसी प्रकार मूढ़ दृष्टियुक्त व्यक्ति जिस आत्मा को बन्धनयुक्त मानता है मैं वही नित्य ज्ञानरूप आत्मा हूं।

जैसे द्रष्टा के निज अज्ञान द्वारा रस्सी का स्वरूप ढंक कर रस्सी में सर्पज्ञान उत्पन्न होता है वैसे ही इस आवरणशक्ति द्वारा हमारा स्वरूप ढंक कर हम संसारी मनुष्यों के समान आत्मा को कर्त्ता, भोक्ता, सुखी, दुखी और मोहबद्ध समझने लगते हैं। अज्ञान की आवरणशक्ति का कार्य इसी प्रकार स्वरूप को ढांक कर रखने का है। जैसे रज्जु (रस्सी) विषयक अज्ञान उससे ढंके रज्जु में सर्पादि उत्पन्न करता है वैसे ही आत्म विषयकअज्ञान उससे ढंके आत्मा में जो प्रपञ्चादि उत्पन्न करता है वही विक्षेपशक्ति का कार्य है।

इन दो शक्तियों से उपहित (ढंका) चैतन्य निज प्राधान्य द्वारा निमित्तकारण और निज उपाधि अज्ञान के प्राधान्य द्वारा इस प्रपञ्च का उपादान कारण होता है। जैसे लूता (मकड़ी) अपना तन्तुजाल रचने में अपने प्राधान्यद्वारा निमित्त कारण और अपने शरीरप्राधान्यद्वारा उपादान कारण है। श्रुति में कहा है :—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति।
यथा स्वतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वं॥

अर्थ—जैसे मकड़ी अपने शरीर से धागा निकाल कर जाल बनाती है और पीछे उसी धागे को अपने शरीर में निगल लेती है; जैसे पृथ्वी से औषधियां आप से आप उत्पन्न होती हैं; जैसे इस व्यक्त स्थूल पुरुषदेह से केश और लोमसमूह आप से आप उत्पन्न होते हैं वैसे ही अक्षर चैतन्य से विश्व उत्पन्न हुआ है (और उसी में ही फिर लय को प्राप्त होगा)। (यही विश्व का निमित्त कारण और उपादान कारण है, दूसरा कुछ नहीं है)।

हे पुत्र! तमःप्रधान विक्षेपशक्तियुक्त अज्ञानोपहित चैतन्य के ईक्षण (इच्छा करने) से ही आकाश, आकाशोपहित चैतन्य के ईक्षण से वायु, वायूपहित चैतन्य के ईक्षण से तेज, तेज-उपहित चैतन्य के ईक्षण से जल, जलोपहित चैतन्य के ईक्षण से पृथिवी उत्पन्न होती है। इन आकाशादिकों में जड़त्व अधिक दिख पड़ने से उनके कारण को तमःप्रधान कहते हैं।

क्षिति, अप, तेज, वायु और आकाश इन पांच सूक्ष्म भूतों को अपंचीकृत पंचमहाभूत वा पंच तन्मात्र कहते हैं। इन्हीं से सूक्ष्म शरीर और स्थूल भूतादि की उत्पत्ति होती है। वह कैसे, सो सुनो।

सूक्ष्म (अपंचीकृत) पंचमहाभूतों के पृथक् २ सात्विकांश से पंचज्ञानेन्द्रिय (चक्षु, कर्ण, नासिका, जिव्हा और त्वचा) और पृथक् २ राजसांश से पंचकर्मेन्द्रिय (वाक्, पाणि, पाद, पायु, और उपस्थ) उत्पन्न हुई हैं। (१) आकाश के सात्विकांश से कर्ण (श्रवणेन्द्रिय) और उसी के राजसांश से वाक् उत्पन्न हुई हैं। वाक् और श्रवण आकाश के ही विकार हैं क्योंकि शब्द आकाश का ही गुण है (आकाश में ही शब्द सुन पड़ता है)। जीवदेह में श्रवणेन्द्रियद्वारा उसका अनुभव होता है और वागिन्द्रिय शब्द प्रकाश का साधन मात्र है। (२) वायु के सात्विकांश से त्वक् (स्पर्शेन्द्रिय) और उसके राजसांश से पाणि (हाथ) उत्पन्न हुए हैं। त्वक् और पाणि वायु के विकार हैं; क्योंकि स्पर्श वायु का ही गुण है। जीवदेह में त्वक् द्वारा ही स्पर्श का अनुभव होता है और हस्त छूई हुई वस्तु के ग्रहण का साधन है। (३) तेज के सात्विकांश से चक्षु और उसके राजसांश से पांव उत्पन्न हुए हैं। चक्षु और पांव तेज के ही विकार हैं क्योंकि तेज का गुण रूप और जीव के देह में चक्षु द्वारा उस रूप का अनुभव होता है। देहस्थ राजस तेज से गतिशक्ति का प्रकाश होता है और पांव ही उसके प्रधान साधन हैं। (४) जल के सात्विकांश से जिव्हा (रसनेन्द्रिय) और उसके राजसांश से उपस्थ (लिंगेन्द्रिय) उत्पन्न हुए हैं। जिव्हा और उपस्थ जलतत्व के ही विकार हैं क्योंकि जल का गुण रस और जीवदेह में जिव्हा द्वारा ही उस रस का (स्वादका) अनुभव होता है। उपस्थ ही रस या आनंद उत्पादन का प्रधान साधन है। (५) पृथ्वी के सात्विकांश से नाक (घ्राणेन्द्रिय) और उसके राजसांश से पायु उत्पन्न हुए हैं।

नासिका और पायु पृथ्वी के विकार हैं क्योंकि पृथ्वी का गुण गंध है और जीवदेह में नाक से ही गंध का अनुभव होता है। पायु दुर्गन्धयुक्त मलत्याग का प्रधान साधन है।

इन अपंचीकृत सूक्ष्म पंचमहाभूतों के सम्मिलित (इकट्ठे हुए) सात्विकांशसे अन्तःकरण उत्पन्न हुआ है। वृत्तिके अनुसार अन्तःकरण के चार भेद हैं—मन, बुद्धि, चित्त, और अहंकार। संकल्प विकल्प करनेवाली वृत्ति मन है। निश्चय आत्मिका अंतःकरणवृति का नाम बुद्धि, अनुसन्धानात्मिका अन्तःकरण वृत्तिका नाम चित्त और अभिमानात्मिका अन्तःकरण वृत्तिका नाम अहंकार है। हे वत्स! चित्त और अहंकार मन और बुद्धि के अन्तर्गत हैं यह तुम्हें एक वार पूर्वमें कह आये हैं।

अपंचीकृत सूक्ष्म पंच महाभूतोंके सम्मिलित राजसांशसे प्राण उत्पन्न हुआ है। वृत्तिके भेदसे प्राण पांच प्रकारका है,—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। इनके कार्यका वर्णन तुमसे पूर्व में कह आये हैं।

हे वत्स! वृक्ष और वनवत्, जल और जलाशयवत् यह सूक्ष्मदेह भी व्यष्टि समष्टि भेदसे दो प्रकारका है। इस समष्टि सूक्ष्मदेहको कोई २ महत् तत्व कहते हैं। महत् तत्व वा समष्टिसूक्ष्मदेहोपहित चैतन्यको सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ, और प्राण ये नाम दिये हैं। सूत्र के समान प्रत्येक में अनुस्यूत होनेके कारण सूत्रात्मा और ज्ञान, इच्छा और क्रियाशक्ति-युक्त अपंचीकृत पंचमहाभूताभिमानी होने से इसके हिरण्यगर्भ और प्राण नाम हुए हैं। यही समष्टिशरीर या हिरण्यगर्भ स्थूल प्रपंच की अपेक्षा सूक्ष्म होने से सूक्ष्म शरीर कहाता है। समष्टि चैतन्यस्वरूप आत्माका इस शरीर में जो अभिमान

है वह उसकी स्वप्नावस्था है। इस अवस्था (विज्ञानमयादि तीन कोषों) में स्थित होने के समय वह आत्मा जाग्रत अवस्था के समान संस्कार और वासनादि द्वारा युक्त होता है ऐसा कहा जाता हैं। यह समष्टिसूक्ष्मशरीर स्थूल प्रपंच का लयस्थान है।

व्यष्टि सूक्ष्म देहोपहित (ढंका) चैतन्य, तेजोमय अन्तःकरण-रूप उपाधिविशिष्ट होने से तैजस कहाता है। व्यष्टि स्थूल देह की अपेक्षा इस देह के सूक्ष्म होने के कारण इसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं। इस शरीर में व्यष्टि चैतन्यस्वरूप तैजसआत्मा के अभिमान को उसकी स्वप्नावस्था कहते हैं। स्वप्नावस्था में (विज्ञानमयादि कोषत्रय में) स्थित काल में व्यष्टि आत्मा (जीव) जाग्रत् अवस्था के संस्कारों और वासनादिकों से युक्त होने से यह व्यष्टि सूक्ष्मदेह ही व्यष्टि स्थूलदेह का लयस्थान है। जैसा पूर्व में कह आये हैं कि कारणदेहस्थ ईश्वर और सुषुप्ति अवस्था में प्राज्ञ अज्ञानवृत्तिद्वारा आनन्द अनुभव करते हैं वैसे ही सूक्ष्मदेहस्थ सूत्रात्मा और स्वप्नावस्था का तैजसात्मा मनोवृत्तिद्वारा वासनामय शब्दादि विषयसमूह का अनुभव करते हैं। इसीलिए शास्त्र में तैजसात्मा को प्रविविक्त-भुक् कहा है।

हे वत्स ! अब तुम समझे कि सूक्ष्मदेहकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई है ?

शिष्य—हां, देव, अच्छी तरह समझ सका हूँ। अब यह जानना चाहता हूँ कि स्थूल प्रपंच और स्थूल शरीर किस प्रकार उत्पन्न हुए हैं।

गुरु—हे पुत्र ! समष्टिसूक्ष्मदेहाभिमानी हिरण्यगर्भ या

परमेश्वर स्थूलरूप से प्रकाशित होने के अभिप्राय की ईक्षणा (इच्छा) से अपंचीकृत पंच सूक्ष्म महाभूतों का पंचीकरण कर पंच स्थूल भूत और उनसे इस जगत्प्रपंच-रूपी सृष्टि की रचना करते भये। पंचीकरण क्या है सो प्रथम सुनिये।

सूक्ष्म पंच महाभूतों में से प्रत्येक के दो २ समान भाग हुए। इस प्रकार दश भागों में से प्रथम पांच भागों के प्रत्येक के चार २ भाग और हुए। प्रत्येक भूत के बचे अर्द्धभाग में दूसरे प्रत्येक भूतों के विभाजित अर्द्धभागों के चतुर्थांश मिला दिये गये। यह निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट रूप में समझ पड़ेगा।

पंच सूक्ष्म महाभूतों के दो समान भाग हुए जैसे :—

आकाश	॥)+॥)=१)
वायु	॥)+॥)=१)
तेज	॥)+॥)=१)
जल	॥)+॥)=१)
पृथिवी	॥)+॥)=१)

---

५ अर्द्ध+५ अर्द्ध=१० अर्द्ध=५ महाभूत

इनमें से प्राथमिक पांच भागों के (पंचार्द्धों के) प्रत्येक के चार २ समान भाग हुए :—

आकाश	॥) = =)+=)+=)+=)
वायु	॥) = =)+=)+=)+=)
तेज	॥) = =)+=)+=)+=)
जल	॥) = =)+=)+=)+=)
पृथिवी	॥) + =)+=)+=)+=)

अब ये विभक्त चार २ भाग अपने से दूसरे भूतों में मिलकर किस प्रकार स्थूल भूत बनते हैं सो देखो :—

(१) स्थूल आकाश=सूक्ष्म (अपंचीकृत) आकाश का निज का ॥)+सूक्ष्म वायु का =)+सूक्ष्म तेज का =)+सूक्ष्म जल का =)+सूक्ष्म पृथ्वी का =)

(२) स्थूल वायु=सूक्ष्म वायु का निज का ॥)+सूक्ष्म आकाश का =)+सूक्ष्म तेज का =)+सूक्ष्म जल का =)+सूक्ष्म पृथ्वी का =)

(३) स्थूल तेज=सूक्ष्म तेज का निजका ॥)+ सूक्ष्म आकाश का =)+ सूक्ष्म वायु का =)+ सूक्ष्म जल का =)+ सूक्ष्म पृथ्वी का =)

(४) स्थूल जल=सूक्ष्म जल का निज का ॥)+ सूक्ष्म आकाश का =)+ सूक्ष्म वायु का =)+ सूक्ष्म तेज का =)+ सूक्ष्म पृथ्वी का =)

(५) स्थूल पृथ्वी =) सूक्ष्म पृथ्वी का निज का ॥)+ सूक्ष्म आकाश का =)+ सूक्ष्म वायु का =)+ सूक्ष्म तेज का =)+ सूक्ष्म जल का =)

शिष्य—गुरुदेव ! इन पंचीकृत स्थूलभूतों में से प्रत्येक में दूसरे भूतों के अंश रहने पर भी उनका अनुभव नहीं होता ; केवल एक भूत विशेष का अनुभव होता है। इसका क्या कारण है ?

गुरु—वत्स ! इन स्थूल पंच महाभूतों में दूसरे भूतों के अंश रहने पर भी "वैशेष्यात्तद्वादस्तद्वादः" इस न्याय के अनुसार प्रत्येक भूत की निज २ विशिष्टता के कारण स्थूल

आकाश इत्यादि नाम पड़े हैं। इसी कारण दूसरे भूतों के अंश रहने पर भी उनका अनुभव नहीं होता है।

वत्स! इस पंचीकृत भूतसमूह से उत्पन्न और स्थूल सूक्ष्म रूप से प्रकट हुए एक दूसरे के ऊपर स्थित भू (पृथ्वी) लोक, भुवः (अंतरिक्ष लोक), स्वः (स्वर्ग लोक) और महः, जन, तप और सत्य लोक, और परस्पर एक दूसरे से नीचे स्थित अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल और पाताल लोक, ये चौदह भुवन उत्पन्न हुए हैं। इस चतुर्दश ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज चतुर्विध प्राणियों के स्थूल शरीर समूह और उनके भोज्य अन्नपानादि उत्पन्न हुए हैं। चतुर्विध प्राणियों का हाल नीचे लिखा जाता है :—

(१) मातृगर्भस्थ जरायु से उत्पन्न प्राणि-समूह को जरायुज प्राणी कहते हैं, जैसे मनुष्य, पशु आदि।

(२) अण्डे से उत्पन्न प्राणि-समूह को अण्डज प्राणी कहते हैं, जैसे पक्षी, सर्प वगैरह।

(३) स्वेद (मल) से उत्पन्न प्राणि-समूह को स्वेदज प्राणी कहते हैं, जैसे जूं, मच्छड़।

(४) भूगर्भ से भूमि को भेदन करके उत्पन्न हुए प्राणि-समूह को उद्भिज्ज प्राणी कहते हैं, जैसे वृक्ष, लता, गुल्म, तृण इत्यादि। कारणदेह और सूक्ष्मदेह के समान स्थूल देह भी व्यष्टि और समष्टि भेद से दो प्रकार के होते हैं; व्यष्टि, वृक्ष और जल के समान, अनेक बुद्धि के विषय; और समष्टि, वन और जलाशय के समान अनेक में एक बुद्धि का विषय। यही अन्न रस का विकार होने के कारण अन्नमय कोष और स्थूल भोग का आयतन (स्थान) होने

के कारण स्थूल शरीर कहाता है। समष्टिस्थूलशरीरोपहित चैतन्य विश्व नरमें (समष्टि नर में अर्थात् सकल प्राणी देह समष्टिरूप देह में) अभिमानी होने के कारण वैश्वानर और नाना रूप में विराजमान होने के कारण विराट् कहा जाता है। समष्टि चैतन्य अथवा आत्मा की यह जाग्रदावस्था है। व्यष्टि स्थूल देह से उपहित (ढंका) चैतन्य (अर्थात् स्थूलदेही जीव) का विश्व नाम कहाता है। आत्मा सूक्ष्म देह का अभिमान त्याग कर स्थूल शरीर में प्रवेश कर भिन्न २ स्थूल शरीरों में स्वतन्त्र २ भावों से अहम्भावसंपन्न होता है। इस कारण उसे विश्व कहते हैं। यह व्यष्टि स्थूल शरीर भी अन्नमय कोष कहाता है। व्यष्टि आत्मा (जीव) की यह जाग्रदावस्था है। जाग्रदावस्था में वैश्वानर और विश्व इन्द्रियों द्वारा वाह्य जगत् के स्थूल विषयों का अनुभव करने के कारण शास्त्र में जागरित स्थान वहिःप्रज्ञ नाम से वर्णित हैं।

शिष्य—गुरुदेव ! अपंचीकृत पंच सूक्ष्ममहाभूतों के पंचीकरण द्वारा यह स्थूल जगत् प्रपंच बना है यह मैं समझा; पंचीकृत भूतों के अंश से यह स्थूल शरीर कैसे बना यह जानने की इच्छा है; दयाकर समझाइये।

गुरु—वत्स ! इस शरीर का जो कठिन अंश है वही पृथ्वी तत्व है, जो द्रव या तरल अंश है वही जल, जो उष्ण स्वभाव है वही तेज, जो संचरणशील है वही वायु, और इस देह में जो गर्त या छिद्र हैं वही आकाश तत्व समझना चाहिये। देह में प्रत्येक भूत पांच २ रूप से अवस्थित है—अस्थि, मांस, स्नायु, त्वचा, (चर्म्म) और रोम इन पांच रूपों में पृथ्वी; शुक्र, पित्त, घर्म (पसीना), लार और रक्त, इन पांच रूपों में जल; क्षुधा, तृषा, निद्रा क्लांति और आलस्य

इन पांच रूपों में तेज ; दौड़ना, फैलाना, चढ़ना, चलना और संकोच प्राप्त होना, इन पांच रूपों में वायु ; और कटि, उदर, हृदय, कंठ और शिर इन पांच रूपों से आकाश अवस्थित है। हे पुत्र ! ये ही अस्थि मांस वगैरा पांच रूपवाले पंचीकृत पंचभूतों की समष्टि ही यह स्थूल देह है। अब समझे ना ?

शिष्य—हां गुरुदेव ! अच्छी तरह समझ सका हूँ। अब प्राणप्रवाहिनी नाड़ी और षट् चक्रों के विषय का उपदेश कृपाकर दीजिये।

गुरु—वत्स ! हमारे शरीर में प्राण प्रधान शक्ति है। बाकी की जो और सब शक्तियां हैं वे सब इस प्राण के प्रगट होने के भेदमात्र हैं। इसलिए प्राण के सिवाय अन्य किसी शक्ति का अस्तित्व नहीं है। हमारी चक्षु वगैरह दश इन्द्रियां एक प्राण के भिन्न २ रूपों में प्रकट होने के सिवाय और कुछ नहीं है। जैसे एक ही ब्राह्मण रसोई बनाते समय महाराज, पूजा करते समय पुजारी, और श्राद्धादि समय में मंत्रपाठ कराने के कारण पुरोहित, छात्रादिकों को पढ़ाते समय अध्यापक, इजलास में बैठते समय हाकिम, और दफ्तर में बैठकर कागज़ पत्र लिखते समय मुंशी कहाता है; वैसे ही एक प्राण के वृत्तिभेद से बहुतसे नाम हुए हैं। वास्तव में भिन्न २ नाड़ियों में प्राण प्रवाह होने के कारण एक प्राणशक्ति ही नाना रूपों में प्रगट होती है। जैसे हमारे चक्षुओं में जो सूक्ष्मनाड़ियां हैं उनमें प्राणप्रवाह होने से वह दर्शन शक्ति रूप में प्रगट होता है। यदि किसी कारण से प्राणप्रवाह की गति रुक गई तो अकसर देखा जाता है कि चक्षु हैं पर दर्शन शक्ति उनमें नहीं है। इसी प्रकार और इन्द्रियों का हाल भी जानो। इसीलिए कहा

जाता है कि एक ही प्राण भिन्न २ इंद्रियों में जीव में भिन्न २ बोध उत्पन्न कराता है और उससे भिन्न २ कार्य कराता है।

यही प्राण जब योगवल से भिन्न २ नाड़ियों में से खिच कर विशुद्ध ज्ञानवाली सुषुम्णा नाड़ी में चलने लगता है तब जीव को आत्मविषयक ज्ञान उत्पन्न होता है। इस सुषुम्णा नाड़ी को छोड़ बाकी नाड़ीसमूह को भोग-वाहिनी नाड़ी कहते हैं। सुषुम्णा में स्थित षट्चक्र मंडल-समूह सूक्ष्म २ नाड़िसमूहों द्वारा कमल समान ग्रथित होने के कारण छः कमल भी कहाता है। प्राणशक्ति के प्रभाव से ही यह पद्मसमूह खिलता है या विकसित होता है। यह सूक्ष्म या दिव्य दृष्टि द्वारा देखा जाता है; स्थूल दृष्टि से नहीं। योगसाधन काल में सुषुम्णा में विशेष प्राणप्रवाह के कारण यह पद्मसमूह विकसित होता है। उसे योगी योगनेत्र से अनुभव करते हैं; किन्तु यह साधारण चक्षुद्वारा नहीं देखा जा सकता है। इसीलिए इस देह से प्राण चले जाने पर शव के चीर फाड़ करने पर भी इस प्राण का अस्तित्व देखा नहीं जाता।

शरीर में प्राणप्रवाहिनी नाड़ियां असंख्य हैं। कोई २ उनको तीन लाख पचास और कोई २ उन्हें वहत्तर हजार वताते हैं। उन सब में पन्द्रह नाड़ियां प्रधान हैं; जैसे सुषुम्णा, इड़ा, पिंगला, गांधारी, हस्तिजिह्वा, कुहू, सरस्वती, पूषा, शूरा या पयस्विनी, वारुणी, अलम्बुषा, विश्वोदरी, राका, या यशस्विनी, शंखिनी और चित्रा। इन सब में भी सुषुम्णा, इड़ा और पिंगला ये तीन प्रधान हैं और योगी के विशेष काम की हैं। इन तीन नाड़ियों में भी सुषुम्णा ही सर्वश्रेष्ठ है जिससे उसे आत्मज्ञान की

देनेवाली कहते हैं। यही मोक्षसाधन का प्रधान आधार है।

मनुष्य देह के पृष्ठ भाग में जो मेरुदण्ड देखा जाता है उसके भीतर ही यह सुषुम्णा नाड़ी मौजूद है। यह नाड़ी चन्द्रसूर्याग्निरूपिणी सत्वरजतमोगुणमयी और किंचित् विकसित (खिले) धत्तूरा पुष्प के समान है। यह मूलाधार पद्म से लगाकर सहस्र दलपद्म पर्यंत गई है। सुषुम्णा के भीतर वज्रा नाड़ी है। वज्रानाड़ी मेढ्रदेश (शिश्नदेश, स्वाधिष्ठान चक्र) से लगाकर शिवपर्यन्त फैली हुई दीप के समान जलती है। वज्रानाड़ी के भीतर चित्रिणी नाड़ी है। मकड़ी जाल का सूत जैस सूक्ष्म है वैसी सूक्ष्म चित्रिणी नाड़ी भी है। इसी चित्रिणी नाड़ी में षट्पद्म माला के समान ग्रथित हैं। यह नाड़ी मूलाधार से लगाकर आज्ञाचक्र के कुछ ऊपर तक, प्रणव तक फैली हुई है। यह नाड़ी प्रणव विलासिता अर्थात् आदि से अन्त पर्यन्त प्रणव द्वारा स्फूर्तिमती (प्रकाशमाना) होती है। अकेले योगी के योगवल से ही इस नाड़ी का तत्व समझ में आ सकता है। इस चित्रिणी नाड़ी के भीतर शुक्लवर्णा ब्रह्मनाड़ी शोभा देती है। ब्रह्मनाड़ी मूलाधारपद्मस्थ स्वयंभूलिङ्ग के मुख से मस्तक में सहस्र-दलपद्म स्थित परमशिवपर्यन्त विस्तीर्ण है। सहस्रार से जो अमृतक्षरण होता है वह इसी नाड़ी में होता है। यही नाड़ी विद्युन्माला के समान चमकती, अतिसूक्ष्मस्वरूपा विशुद्धज्ञानमयी, और नित्यानन्दमयी है।

मूलाधार पद्म से आरम्भ हो इड़ा नाड़ी मेरुदण्ड के वाम भाग में होती हुई हर एक पद्मको वेष्टन करती हुई, आज्ञाचक्र के ऊपर होकर वामनासा मूल पर्यन्त गई है। और इसी प्रकार पिंगला नाड़ी मेरुदण्ड के दक्षिण भाग में होती हुई

आज्ञाचक्र के ऊपर होकर दक्षिण नासामूल पर्यन्त गई है।
मूलाधारपद्म में जिस स्थान से ये तीनों नाड़ियां पृथक् २ हो गई हैं, उसे मुक्तत्रिवेणीतीर्थ, और भ्रूमध्यस्थ आज्ञाचक्र के ऊपर जिस स्थान में वे तीनों फिर मिल गई हैं उसे युक्तत्रिवेणीतीर्थ कहते हैं, क्योंकि इड़ारूपीगङ्गा, पिंगलारूपी-यमुना, और सुषुम्णारूपी सरस्वती नदी के सङ्गम स्थान ये दोनों हैं। कोई २ इड़ा को चन्द्र और पिंगला को सूर्य नाड़ी कहते हैं। इस मत से जब प्राण इड़ा में बहते हैं तब रात्रि और जब पिंगला में बहते हैं तब दिन होता है। पवन विजय स्वरोदय में लिखा है :—

दिवानपूजयेल्लिंगं रात्रौचवनपूजयेत्।
सर्वदा पूजयेल्लिंगं दिवारात्रिनिरोधतः॥

अर्थ—दिन में आत्मपूजा न करे, रात्रि में भी न करे; दिन रात्रि दोनों का रोध करके सर्वदा आत्मपूजा (आत्म-ध्यान) करे।

इस कथन का तात्पर्य यह है कि जब इड़ा नाड़ी में प्राण प्रवाह हो रहा है तब देहब्रह्माण्ड की रात्रि होने से तमोगुण की वृद्धि होती है। तमोगुण प्रधान होने के कारण रात्रि निद्रा का समय है और रजोगुण प्रधान होने से दिन कर्म करने का समय है। इसलिए वाह्य जगत् का दिन रात्रि का सन्धि समय (प्रातःकाल और सायं संध्या) भगवत् उपासना का उत्तम समय है। उसी प्रकार इड़ा तमोगुण-विशिष्टा और पिंगला रजोगुणविशिष्टा होने से उनमें जबतक प्राणप्रवाह होता है तबतक मन भी रजस्तमोऽभिभूत (रजतम से ढंका) हो, चञ्चलता या जड़भाव प्राप्त होता रहता है।

इसलिए दिवारात्रि को रोककर अर्थात् पिंगला और इड़ा नाड़ी स्थित प्राणप्रवाह को रोध करके आत्मचिन्ता करनी चाहिये। इन दोनों नाड़ियों के प्राणप्रवाह रुकने से ही प्राण सत्वगुणप्रधाना ब्रह्मनाड़ी में चलने लगता है। इससे मन भी रज और तम को त्याग कर सत्वगुणावलंबी हो जाता है। इसीसे तब मन में विशेष एकाग्रता होती है और तब सच्चा ध्यान आरम्भ होता है।

वत्स! अब अन्य नाड़ियों के विषय में कहते हैं, सुनो। नाभिचक्र में से गांधारी और हस्तिजिव्हा नाम की दो नाड़ियां दर्शनसाधन दो चक्षुओं में, पूषा और अलम्बुषा, श्रवणसाधन दो कर्णों में, और शूरा गन्धग्रहणार्थ नासिका देश में (भ्रूमध्य पर्यन्त) जाती हैं। विश्वोदरी नाड़ी जठर में जाकर चवाना, चूसना, चाटना, पीना, इन चार प्रकार के अन्न का परिपाक करती है। सरस्वती नामकी नाड़ी जिव्हा के अग्रभाग पर्यन्त गई है। वह रस के ज्ञान और वाक्यों को प्रकट करती है। राका नाम की नाड़ी जल लेकर नाक में श्लेष्मा का संचय करके छींक उत्पन्न करती है। शंखिनी नाड़ी कण्ठकूप में उत्पन्न होकर, ऊर्द्धगामिनी और नीचे जाती हुई, अन्नसार ग्रहणकर मस्तक में संचय करती है। इस अन्न के सारभाग द्वारा ही मस्तिष्क की शक्ति बढ़ती है। नाभि से तीन नाड़ियां नीचे की ओर गई हैं—कुहू नाड़ी पायुपर्यन्त जाकर मलत्याग का, वारुणी लिंग में जाकर मूत्र-त्याग का और चित्रा शुक्रत्याग का कार्य सम्भालती हैं।

हे पुत्र! अब षट्चक्र वर्णन करते हैं, एकाग्र चित्त से सुनो। यह चक्रसमूह प्राणप्रवाह का केन्द्रस्थान है। भिन्न २ केन्द्रों में मन का संयम करने से भिन्न २ शक्तियों का लाभ होता है। षट्चक्र के सिवाय और भी कई गुप्तचक्र

हैं जिनका हाल तुमको कहूंगा। सब मिलाकर नवचक्र हैं; उनमें से छः प्रधान होने के कारण षट्चक्र बोले जाते हैं। दूसरे चक्रों का वर्णन प्रायः कोई नहीं करता। सब चक्रों के परे परब्रह्म का स्थान सहस्रार है। यहां पहुंच कर योगी की योग क्रिया का शेष होता है।

१ मूलाधार चक्र अथवा पद्म।

गुह्य के दो अंगुल ऊपर और उपस्थ के दो अंगुल नीचे मूलाधार नामक चक्र अथवा पद्म अवस्थित है। इसमें चार दल हैं और यह कुछ रक्तवर्ण है। मूलशक्ति अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति का आधार और साधन भजन का मूल होने के कारण इस चक्र को मूलाधार कहते हैं। इस चक्र के चार दलों में वं, शं, षं, सं, चार वर्ण हैं। ये चार वर्ण तप्तसुवर्ण के समान उज्ज्वल हैं। इस चक्र के मध्य स्थान में अष्टशूल शोभित चतुष्कोण पृथ्वी मण्डल है। उसके बीच में पृथ्वीबीज लं है। उक्त पृथ्वीचक्र के अन्तर्गत पृथ्वीबीजपतिपाद्य देवता इन्द्र, चतुर्हस्तवाले, नाना भूषणयुक्त, श्वेत हाथी के ऊपर बैठे हैं। इस चक्र के अधिपति नवीन सूर्य के समान रक्तवर्ण चतुर्भुज और चतुर्मुख स्रष्टा ब्रह्मा हैं। उनके चार हाथ चार वेद स्वरूप (साम ऋक् यजुः और और अथर्व) हैं और चार मुखों से वे वेद प्रगट होते हैं। इस स्थान में ब्रह्मा की गोद में उनकी शक्ति चतुर्भुजा रक्त-नेत्रा और सूर्य के समान दीप्तिशालिनी डाकिनी शक्ति है। इस चक्र की कर्णिका में वज्रनाड़ी के मुखप्रदेश में योनिमण्डल समान कामकलारूप त्रिकोण यंत्र है जो विद्युत् समान प्रकाशमान है। इस योनिमण्डल के वाम कोण में इड़ा, दक्षिण कोण में पिङ्गला और मध्य स्थल में सुषुम्णानाड़ी

वर्तमान है। यह योनिमण्डल या त्रिकोणमण्डल भोग-मोक्षरूप सर्वकामफलप्रदायक कामरूपपीठ नाम से प्रसिद्ध है। इसके मध्य में तेजोमय रक्तवर्ण क्लीं बीजरूप कन्दर्प नामक स्थिरतर वायु विद्यमान है। उसके मध्य में ब्रह्मनाड़ी के मुख में रक्तवर्ण और कोटिसूर्यज्योतिसम दीप्तिशाली स्वयंभूलिङ्ग है। उसके शरीर में नवीन बिजली की माला समान अति सूक्ष्म कुण्डलिनीशक्ति सर्प समान, साढ़े तीन कुण्डल में लिपटी हुई स्वयंभूलिङ्ग के सिर पर सोई हुई है। यह देखने में शङ्ख के आवर्तन के समान है। यह कुण्डलिनी पशु, पक्षी, दानव, देवता, यक्ष, राक्षस, मगर, वगैरह सब प्राणियों के शरीरों में वर्तमान है। इसके प्रकाश से ही सकल ब्रह्माण्ड प्रकाशमान होता है। यही नित्य ज्ञानदेनेवाली, अति सूक्ष्मा और नित्यानन्दरूपिणी, विद्युत्-माला के समान प्रकाशमाना परम श्रेष्ठा कला अर्थात् चित्-शक्ति कुण्डलिनी के भीतर विराजती है। सद्गुरु की कृपा से इस कुण्डलिनी के जागने से साधना द्वारा धीरे २ उस सर्व-श्रेष्ठा प्रज्ञा का लाभ हो सकता है। इस प्रज्ञा द्वारा ही एक विज्ञान से सर्व विज्ञान का लाभ हो सकता है। इसी कुण्डलिनी के जागरण से मानव-जीवन का पूर्णत्व लाभ होता है। उसको जगानेवाले साधन भजन और योगादि नानाप्रकार के अनुष्ठानों का हाल शास्त्रों में वर्णित है। मूलाधारादि पद्मसमूह अधोमुख और विना खिले हैं किन्तु कुण्डलिनी जगने पर पद्मसमूह ऊर्ध्वमुख और खिला हुआ हो जाता है। कोई २ कहते हैं कि यह पद्मसमूह सर्वतोमुख है। जो इस मूलाधार पद्म या चक्र में कुण्डलिनी देवी का ध्यान करते हैं वे नर श्रेष्ठ और सर्व शास्त्रवेत्ता बन सकते हैं। वे निरामय और विशुद्ध स्वभाव होकर गद्यपद्यादि रचना द्वारा

देवता और गुरुदेव की स्तुति करने में समर्थ होते हैं। इसी मूलाधार चक्र या पद्म को भूलोक कहते हैं।

(२) स्वाधिष्ठान चक्र या पद्म

मूलाधार चक्र या पद्म के ऊपर लिंग मुख में सुषुम्णा के अन्तर्गत चित्रिणी नाड़ी में सिन्दूर समान लोहित वर्ण षड्-दलवाला स्वाधिष्ठान चक्र या पद्म विराजमान है। यह पद्म बिजली के समान चमकता, उसके छः दलों में बं, भं, मं, यं, रं, लं, ये छः वर्ण हैं। इस पद्म में अर्धचन्द्राकार श्वेत-वर्ण वरुण (जल) मंडल और उसके बीच में शरत् काल के चंद्र समान श्वेतवर्ण वरुण बीज वं विद्यमान है। वरुण-बीजपतिपाद्य वरुण देवता के दो हाथ हैं, वे श्वेतवर्ण और मकरारोहणयुक्त हैं। इस पद्म के अधिपति देवता विष्णु हैं। उनका नील वर्ण है, चार हाथ हैं और वे पीताम्बर पहिने हुए हैं। वे नवयौवन-संपन्न हैं। उनकी छाती पर श्रीवत्सकौस्तुभ का भूषण है। ये ही सबके पालनकर्त्ता हैं। उनकी गोद में नीलवर्णा, दिव्य अलंकारों से विभूषिता, चतुर्भुजा राकिनी नाम की शक्ति है। जो इस स्वाधिष्ठान चक्र का ध्यान करते हैं उनका अहंकारादिरिपुसमूह नाश होता है। इसी स्वाधिष्ठान चक्र को भुवर्लोक कहते हैं।

(३) मणिपूर चक्र या पद्म

स्वाधिष्ठान चक्र के ऊपर नाभिमूल में दश दलवाला मणिपूर नामक चक्र या पद्म है। इन दश दलों में डं, ढं, णं, तं, थं, दं, धं, नं, पं, फं, दश वर्ण हैं। इस मणिपूर पद्म का वर्ण मेघसमान है और उसके दश वर्ण (अक्षर) भी नीलवर्ण हैं। इस पद्म में रक्तवर्ण त्रिकोण अग्निमंडल

शोभायमान है। उसके बीच में रक्तवर्ण अग्निबीज "रं" विद्यमान है। अग्निबीज प्रतिपाद्य अग्नि देवता के चार हाथ हैं। वे रक्तवर्ण हैं। उनका वाहन मेष है। इस पद्म के अधिपति रुद्र हैं। उनका वर्ण विशुद्ध सिंदूर के समान है, देह भस्मभूषित है। उनके तीन नेत्र हैं, वे वृद्ध और सृष्टिसंहार करनेवाले हैं। उनके दो हाथ हैं। एक हाथ में वर और दूसरे में अभय है। उनकी गोद में उनकी शक्ति चतुर्भुजा, श्यामवर्णा, पीताम्बरा और नाना अलंकारों से विभूषिता लाकिनी नाम की शक्ति है। जो इस मणिपूर पद्म का ध्यान करते हैं वे सृजन, पालन और निधन करने में समर्थ होते हैं; उनके मुखकमल से वाग्देवी सदैव प्रकाशित होती है। पातंजल योग सूत्र में लिखा है:—

नाभिचक्रे कायव्यूह ज्ञानं ।

अर्थ—नाभिचक्र में मनसंयम करने से देह तत्व विषय का ज्ञान जन्मता है।

इसी पद्म में ब्रह्मग्रन्थि वर्तमान है जिसके भेदन होते समय साधक का शरीर कृश हो जाता है और पेट की बीमारी होती है। उस बीमारी में दवा न खाकर इसी पद्म में ध्यान करना चाहिये; उसी से वह व्याधि आरोग्य होगी। इस मणिपूर चक्र में ध्यान रख जपादि करने से मंत्र के कंपन का अनुभव शीघ्र होता है और मन क्रमशः शांत होता है। इस स्थान में मन एकाग्र कर जपादि करने से अग्नि बल भी बढ़ता है, अजीर्णादि दूर होते हैं और शरीर रसशून्य हो सकता है। शरीर रसशून्य होने से अल्प मूत्र और अल्प पुरीष (पाखाना) होते हैं। जो केवल लययोग अभ्यास करते हैं उनको इस

स्थान में ध्यानादि करना चाहिये। इस स्थान में मनसंयम करने से नाद भी सुन पड़ता है। इसी मणिपूर पद्म को स्वर्लोक कहते हैं।

(४) अनाहतचक्र या पद्म

मणिपूर चक्र या पद्म के ऊपर हृदय में वारह दलवाला अनाहत नाम का चक्र या पद्म है। उस चक्र का वर्ण वंधूक (लाल दुपहरिया) पुष्प के समान है। इसके वारह दल में कं, खं, गं, घं, ङं, चं, छं, जं, झं, ञं, टं, ठं, ये वारह वर्ण हैं। इनका रंग सिन्दूरवर्ण है। इस पद्म में धूम्रवर्ण षट्कोणयुक्त वायुमण्डल है जिस में धूम्रवर्ण 'यं' वायुवीज है। उसके अंकप्रदेश में वायुवीज प्रतिपाद्य वायु देवता हैं। उनका धूम्रवर्ण है, उनके चार हाथ हैं, वे काले हिरण पर वैठे हैं। इस पद्म के अधिपति देवता 'ईशान' या 'ईश्वर' हैं। वे तीन लोकों के वासियों को अभयदान और वरदान देते हैं। उनका वर्ण शुभ्र (चमकता) है। उनकी गोद में उनकी पत्नी, विद्युत् समान पीतवर्णा, त्रिनेत्रा, सव अलंकारों से विभूषिता कंकाल (हड्डी पंजर, कपाल) माला-धारिणी, चतुर्भुजा और योगीजनों का कल्याण करनेवाली 'काकिनी' नाम की शक्ति हैं; उनके चार हाथों में पाश, कपाल, वर और अभय हैं। इस पद्म में सुवर्ण के समान उज्ज्वल वाण नामक शिवलिंग है। उनके मस्तक में तेजोमय अतिसूक्ष्म अर्द्धचन्द्राकृति एक मणि है। उसमें वायुहीन-दीपशिखाकार श्वेतवर्ण 'हंस' वीज का प्रतिपाद्य और अहंकार का आश्रय एक विशेष तेज है जिसे जीवात्मा कहते हैं। यही सुख दुःख और कर्मफल का भोग करता है। सद्गुरु की कृपा से इस ज्योति का दर्शन करके उसमें

मनसंयम करने से शोक मोहादि नहीं रहते हैं। इसीलिए यह ज्योति 'विशोक' नाम से प्रख्यात है।

यह पद्म कल्पवृक्ष के समान फलप्रद है। जिस प्रकार कल्पतरु के निकट जिसे जिस वस्तु की चाहना होती है वह उसे मिल जाती है उसी प्रकार सगुणोपासक पूजा के लिए यहां जो कुछ भी ढूंढ़ेगा वही पावेगा। विना आघात के यहाँ से स्वतःनाद होता है इसलिए इसे 'अनाहत पद्म' कहते हैं। शब्द ब्रह्म (ॐ कार) का स्थान यहीं पर है।

'शब्दब्रह्मेति तं प्राह, साक्षाद्देवः सदाशिवः ।
अनाहतेषु चक्रेषु स शब्दः परिकीर्त्यते ॥

(परापरिमल्लोल्लासः)

अर्थ—जिसको शब्द ब्रह्म कहते हैं वही साक्षात् सदाशिव हैं। वही शब्द अनाहत चक्र में है।

इस पद्ममें विष्णुग्रन्थि वर्तमान है। इस पद्मके भेदकालमें भी कष्ट होता है। इन अनाहतनामक पद्मको 'महर्लोक' कहते हैं। इसको 'पूर्णगिरि' नामक पीठ भी कहते हैं। इस पद्मका ध्यान करनेसे वाक्पतित्व लाभ होता है और वह साधक जगत् के सृजन, पालन, और संहार करनेमें भी समर्थ होता है। वह योगियोंमें श्रेष्ठ हो सकता है और जितेन्द्रिय हो जाता है। उसे अत्युत्तम कवित्वशक्ति लाभ हो जाती है और पर-कायप्रवेश की शक्ति भी उत्पन्न हो जाती है।

(५) विशुद्ध चक्र या पद्म

अनाहत नामक चक्र या पद्मके ऊर्ध्वदेशमें कंठमें सोलह दलका विशुद्ध नामक चक्र या पद्म है। इस पद्मका रंग धूम्र वर्ण है। षोडशदलोंके अं, आं, इं, ईं, उं, ऊं, ऋं, ॠं, लृं, ॡं,

एं, ऐं, ओं, औं, अं, अः ये षोडश स्वर वर्ण है। इनका रंग शोनफूल के सदृश (सिंदूररङ्ग, लोहित, रक्तवर्ण) है। इस पद्मके मध्यमें पूर्णचन्द्रके सदृश गोलाकार आकाश मण्डल है। इस चन्द्रमण्डलके मध्यमें स्फटिक सदृश 'हं' वीज और इसका प्रतिपाद्य आकाश देवता है। वे हिमच्छाया सदृश चमकते गजके ऊपर आरूढ़ हैं। उनके शुक्लवर्ण और चार हाथ हैं। चारों हाथोंमें पाश, अङ्कुश, अभय और वर शोभायमान हैं। उनके अङ्कप्रदेशमें इस पद्मके अधिपति सदाशिव हैं। उनके पञ्चमुख हैं और हर एक मुखमें तीन नेत्र हैं। उनके दश हाथ हैं और वे व्याघ्रचर्म पहिने हुए हैं। इनको अर्द्धनारीश्वर कहते हैं। उनको गोदमें उनकी अर्धाङ्गिनी चतुर्भुजा 'शाकिनी' नामकी शक्ति हैं। उनका परिधान पीताम्बर है और चारों हाथोंमें शर, धनु, पाश, और अङ्कुश विद्यमान हैं। वे सर्वदा चन्द्रसे निकलती सुधाके पानसे पुलकित रहती हैं। इस पद्मकी कर्णिकामें निष्कलङ्क विशुद्ध चन्द्रमण्डल है। यह परमपदनिरत शुद्धमना साधकके मोक्षका द्वार स्वरूप है। साधनद्वार इस स्थानपर मन की स्थिति होनेसे मन आकाशके समान विशुद्ध हो जाता है। इसलिए इसको 'विशुद्ध' पद्म कहते हैं। इस पद्ममें मन संयम करके यदि योगी क्रोध करे तो त्रिभुवन विचलित हो जाय। जो सदा इस पद्मका ध्यान करते हैं वे कवि, वाग्मी, महाज्ञानी, शान्तचित्त, निरोग शोकहीन, व दीर्घजीवी हो जाते हैं। इस पद्मको 'जनलोक' कहते हैं। इस पद्ममें 'जलन्धर' नामक पीठ वर्तमान है।

(६) ललना चक्र या पद्म

विशुद्ध चक्र या पद्म के ऊर्ध्व देश में तालुमूल पर ललना चक्र या पद्म शोभायमान है। यह पद्म रक्तवर्ण

और द्वादश दल विशिष्ट है। इस चक्र या पद्म में अमृतस्थली है। इस पद्म के एक-एक दल में यथाक्रम श्रद्धा, सन्तोष, स्नेह, दया, मान, अपराध, शोक, खेद, अरति, सम्भ्रम, ऊर्म्मि और शुद्धता ये बारह वृत्तियां हैं। इस चक्र में ध्यान करने से उन्माद, ज्वर, और पित्तादि रोग आरोग्य हो जाते हैं। हे पुत्र—योगस्वरोदय में इस पद्म या चक्र के ६४ दल वर्णित हैं—

'चतुःषष्टिदलं तालुमध्ये चक्रन्तु मध्यमं ।
पीयूषपूर्णकोटीन्दुसन्निभं अमृतस्थली' ॥

अर्थ—तालु मध्य में चौसठ दल का मध्यम चक्र है। इस स्थान पर कोटि चन्द्र सदृश अमृतपूर्ण अमृतस्थली है।

(७) आज्ञा चक्र या पद्म

दोनों भ्रुवों के मध्य स्थान में आज्ञा नामक एक चक्र या पद्म विद्यमान है। इस स्थान पर मन संयम करने से आज्ञा अर्थात् सुरीली दैववाणी लाभ होती है। इसीलिए इसको आज्ञा चक्र या पद्म कहते हैं। यह पद्म शुभ्र वर्ण एवं योगीजनों का ध्यानस्थल है। इस पद्म के दो दलों में हं, क्षं, दो वर्ण हैं। इन दो दलों में प्रवृत्ति और निवृत्ति नामक दो वृत्तियां हैं। इस पद्म के अधिपति देवता ज्ञानदाता शिव हैं। उनके दो हस्त, श्वेतवर्ण, और त्रिनेत्र हैं। यहां पर विद्यामुद्रा, कपाल, डमरू, और जपमाला धारिणी चतुर्हस्ता षड़ानना 'हाकिनी' नामकी शक्ति हैं।

इस पद्म की कर्णिका में तीन गुण हैं। इस योनि-रूपिणी कर्णिका के तीन कोनों में यथाक्रम ब्रह्मा, विष्णु व महेश्वर हैं। इस कर्णिका का भी शुभ्र वर्ण है। इसके मध्य में 'इतर' नामक शिवलिंग है। यह पद्म इच्छा-

शक्ति का स्थान है। इसका अधिष्ठाता परमात्मा है। इस स्थान पर मनका संयम करने से प्रगाढ़ इच्छाशक्ति उत्पन्न होती है। इस इच्छाशक्ति के बल से साधक सृष्टि, स्थिति और संहार करने में समर्थ होता है। वह ब्रह्मा, विष्णु और शिव के तुल्य हो जाता है।

भिन्न २ पद्मोंके ध्यान करने से जो फल प्राप्त होते हैं वे सब एक मात्र इस पद्मके ध्यानद्वाराही लाभ हो जाते हैं।

इस पद्ममें रुद्रग्रन्थि है। इस रुद्रग्रन्थिके भेद होनेके समय साधकका आहार कम हो जाता है और मलमूत्रादि भी अल्प होजाते हैं। आहार कम हो जानेसे शरीर दुर्बल या कृश नहीं हो जाता है वरन् कान्ति की वृद्धि होती है। इस पद्मके भेद होनेपर कुण्डलिनी शक्ति अनायासही (विना वाधा प्राप्त हुए) सहस्रारमें परम शिवके सहित मिल जाती है।

वत्स !—इस पद्मके भेद होनेके समय भ्रूमध्य या कपाल इत्यादि स्थान भयानक टन्-टन् करते हैं, ऐसा वोध होता है कि वज्रके समान कुछ गड़ रहा है और भ्रूमध्य अभी फट जावेगा। उस समय नाना रूप क्रियाएं होती हैं।

साधारणतः वक्षस्थलको ही लोग हृदय करके जानते हैं किन्तु आज्ञा पद्मको भी हृदय कहते हैं यह हर एक नहीं जानता।

'तदेव हृदयं नाम सर्वशास्त्रादिसम्मतम्।
अन्यथा हृदि किञ्चास्तिप्रोक्तं यत् स्थूलबुद्धिभिः

(योगस्वरोदय)

अर्थ—यही अर्थात् आज्ञा पद्मही सर्व शास्त्र सम्मत हृदय है। स्थूल बुद्धि व्यक्ति ही अन्यस्थल को (वक्षस्थलको) हृदय कहते हैं।

इस आज्ञापद्मपर इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्णा नाड़ियोंका मिलनेका स्थान है। मूलाधारसे इड़ा पिङ्गला सुषुम्णा अलग-अलग प्रवाहित होकर इस स्थलपर मिलती हैं। इड़ाको गङ्गा, पिङ्गलाको यमुना, सुषुम्णाको सरस्वती कहते हैं। इस स्थानका नाम 'युक्तत्रिवेणी' है। इसका दूसरा नाम तीर्थ-राज है। इस स्थानपर मानस स्नान करनेसे जीव सर्वपापोंसे मुक्त हो जाता है। *इस आज्ञापद्मको 'तपोलोक' कहते हैं।

(८) मनश्चक्र

आज्ञा पद्मके किंचित् ऊर्ध्व में मनश्चक्र है। यहां पर मन का स्थान है। इस मनश्चक्र में ज्ञान और ज्ञेय स्वरूप अन्तरात्मा विराजित हैं। वह दीपशिखा के आकार का है। यहां पर वर्णरूपी अक्षर ब्रह्म (ॐ) शोभायमान है। यह सुवर्ण के समान उज्ज्वल है। इसके ऊर्ध्व में अर्ध चन्द्र शोभित है। उसके ऊपर तेजपुञ्ज एक विन्दु है और इस विन्दु के ऊपर के भाग में शुभ्रवर्ण चन्द्रमा-सम नाद (शिव लिङ्ग) है। इस मनचक्र के छः दल हैं। इसके छः दलों में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और स्वप्न ये वृत्तियां हैं। ये दल भिन्न-भिन्न वर्णों से रञ्जित हैं। कोई सादा कोई लाल एवं कोई पीला है। घड़ी की सुई के समान मन जब घूम कर जिस दल में जाता है तब उसी रूपके भाव का उदय होता है। जैसे मन जब श्वेत दल में जाता

---

*इड़ा भागीरथी गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी।
तयोर्मध्यगतानाड़ी सुषुम्णाख्या सरस्वती॥
त्रिवेणी सङ्गमे यत्र तीर्थराजः सउच्यते।
तत्रस्नानं प्रकुर्वीत सर्वपापैःप्रमुच्यते॥
(ज्ञानसंकलिनीतंत्रम्)

है तब सत्व भाव का, रक्त वर्ण के दल में जाने पर रजो भाव का, एवं पीतवर्ण के दल में जाने पर तमोभाव का उदय होता है।

(६) सोमचक्र

इस मनचक्र के कुछ ऊर्ध्व में सोमचक्र स्थित है। इस चक्र के षोडश दल हैं। ये षोडश दल षोडश कलाओं के नाम से प्रसिद्ध हैं। षोडश कलाएँ ये हैं:—कृपा, मृदुता, धैर्य, वैराग्य, धृति, सम्पद, हास्य, रोमाञ्च, विनय, ध्यान, सुस्थिरता, गाम्भीर्य, उद्यम, अक्षोभ, औदार्य्य और एकाग्रता। इस सोमचक्र में मन की स्थिति होने पर धैर्य, वैराग्य, अक्षोभ, सुस्थिरता, गाम्भीर्य और एकाग्रता इत्यादि दृढ़ होते हैं। इस सोमचक्र के किञ्चित ऊर्ध्व में, 'निरालम्ब पुरी' है। कोई कोई इसे 'शून्य स्थान' भी कहते हैं। इस स्थान में मन अवस्थित होने पर बिना अवलम्बन के ही मन और विना रोध के ही वायु, स्थिर हो जाते हैं। इस स्थान पर अग्नि, चन्द्र और सूर्य के समान तेजसम्पन्न जगत् के साक्षिस्वरूप पूर्णैश्वर्य, अव्यय, ज्योतिर्मय ईश्वर का साक्षात्कार होता है। इस निरालम्ब-पुरी में 'उडयानाख्य' महापीठ वर्तमान है।

हे पुत्र! इस निरालम्ब-पुरी में मन रहने से देहात्मक बोध नहीं रहता है; तब अपने आप को आद्यन्तरहित चित्शून्य बोध करता है। इतने काल तक इस पाञ्चभौतिक देह, मन, बुद्धि, व इन्द्रियादि को जो 'मैं' और 'मेरा' करके समझता था वह इस स्थान पर मन आने से एक मुहूर्त्त में ही वायु के भंवर के समान उड़ जाता है। तब अति सुन्दर, अति निर्मल नित्यानन्द धाम में नित्य आत्मा की

उपलब्धि होती है। यही मैं तो जाग्रत, स्वप्न व सुषुप्ति सब अवस्थाओं में एक रूप और साक्षिस्वरूप हूं; मैं ही तो सब वस्तुओं में ओत-प्रोत भाव से हूं; मुझ से भिन्न और कोई द्वितीय सत्व ही नहीं है; मुझ से ही यह सब है और मैं ही यह सब हूं ऐसा अनुभव होता है। मरुभूमि में धूप के मारे तृषित मृग को सुशीतल वृक्ष की छाया प्राप्ति के समान मन इस स्थान पर आकर शान्ति प्राप्त करके बच जाता है।

(१०) सहस्रार पद्म

हे पुत्र! अब सर्वचक्रों या पद्मों के परे साधक की चरम उपलब्धिका स्थान और सब सम्प्रदायों के निज निज उपास्यों के स्थान सहस्रार पद्म का वर्णन करता हूँ उसे श्रवण करो। मूलाधारस्थ कुंडलिनी शक्ति के इन नौ चक्रों को भेद करके सहस्रार में परमशिव वा परमब्रह्म के सहित मिलित होनेपर सर्ववृत्ति-निरोधरूप असम्प्रज्ञात या निर्विकल्प समाधि का लाभ होता है। असम्प्रज्ञात या निर्विकल्प समाधि-योग ही साधक को ब्रह्म के अद्वैत स्वरूप में स्थिति लाभ कराता है। यहांपर 'मैं' 'तुम' और 'वह' कुछ भी नहीं रहता है; सब एक ही हो जाता है। यहीं पर 'ब्रह्मैव केवलम्', यहीं पर आत्यन्तिक-दुःखनिवृत्ति का मूल परमानन्द प्राप्ति का स्थान है।

हे वत्स! शिरोदेश में ऊर्ध्वमुख बारह दल का एक पद्म है। वह श्वेतवर्ण है। यहांपर श्वेत वर्ण वाग्भव-बीज अर्थात् गुरुबीज 'ऐं' है, उसके पार्श्व ही में उसके प्रतिपाद्य श्रीगुरुदेव हैं। उनका श्वेतवर्ण है, दो हाथ हैं, और दोनों हाथों में वर और अभय हैं। उनके गले में श्वेत माला है।

वे श्वेत वस्त्र पहिने हैं और शरीर में श्वेत गन्ध का लेपन है। उनका प्रसन्न वदन है। उनकी गोद में प्रातःसूर्यवत् रक्तवर्णा निजशक्ति दो भुजावाली है जो अपने वाम हस्त में पद्म धारण किये है और दक्षिण हस्त द्वारा श्रीगुरु का शरीर वेष्टन किये हैं। इस पद्म की कर्णिका में त्रिकोण-मन्डल है। इस में शून्याकार स्थान है। इस ऊर्ध्वमुख द्वादशदल कमल के ऊपर सहस्रदल पद्म छत्र के समान अधोमुख विकसित है। यह पूर्णचन्द्र के सदृश शुभ्रवर्ण और मनोहर है। इस पद्म के दल श्वेतवर्ण के हैं। इसमें अकारादि पचास वर्ण हैं। यह केवलानन्द स्वरूप है।

इस पद्म में निष्कलङ्क पूर्णचन्द्र शोभायमान है। उसका ज्योत्स्नाजाल परम शोभा विस्तार करता है; एवं इस चन्द्र की स्निग्ध सुधाराशि हास्य के समान शोभित है। इसके मध्य में बिजली का सा त्रिकोण मण्डल है। इन तीन कोणों में 'हं' 'लं' 'क्षं' ये तीन वर्ण हैं। इस त्रिकोण मण्डल का नाम 'शक्तिमण्डल' है। उसके मध्य में मध्यान्ह-कालीन कोटि-सूर्य-स्वरूप तेजोमय और कोटि पूर्ण-चन्द्र-सदृश सुशीतल एक बिन्दु स्वरूप शून्य स्थल है।

यहां पर आकाशरूपी परमात्मस्वरूप सकल सुरगणों के गुरु परम शिव अवस्थित हैं। ये परमानन्दस्वरूप एवं सकल जीवगणों के अज्ञान के नाश के कारण हैं। इस स्थान पर मूलाधारस्थ कुण्डलिनी शक्ति के परम शिव के साथ मिलने से सर्व वृत्तियों का निरोध होता है। इस शून्य स्थल को ही शिवभक्त-गण शिवस्थान, वैष्णवगण परम पुरुष हरि का स्थान, देवी भक्तगण शक्ति का स्थान और कोई कोई मुनि ऋषि इसको प्रकृति पुरुष का निर्मल स्थान कहकर वर्णन करते हैं। इस स्थान में प्रभातकालीन तरुण

सूर्य के समान रक्तवर्णा, शुद्धा, मृणाल तन्तु के शतांश के एकांशवत् सूक्ष्मा अमानाम्नी चंद्र की षोडसी कलाओं के परे की कला विद्यमान है। यह विद्युत्समूह के समान दीप्तिमती, सतत प्रकाशशीला व अधोमुखी है।

हे पुत्र! चन्द्र की सोलह कलायें होती हैं, किन्तु इन सोलह कलाओं में अमा-कला के अतिरिक्त अन्यान्य सब कलाओं की क्षय और वृद्धि होती हैं। इस अमाकला की क्षय और वृद्धि नहीं होती। पञ्चदश कलाओं में जो कुछ है वह सब इस अमा-नाम्नी कला में वर्तमान है। चन्द्रमा की सब सुधा यह अमा-नाम्नी कला ही धारण करती है। उसी से ही पूर्णानन्द सुधाधारा विगलित होती है। अमाकला से क्षरित अमृत सोमचक्र में से दो धाराओं में विभक्त होकर एक धारा सुषुम्णा में प्रवेश करती है और दूसरी धारा दिवारात्रि इड़ा नाड़ी द्वारा प्रवाहित होती है। देहमध्यस्थ सूर्य के ऊर्ध्वरश्मि होकर इसे आकर्षण करने से शरीर में जरा, नाना विधि पीड़ा और बुढ़ापा प्राप्त होते हैं। इसके निवारणार्थ ही 'विपरीत करणी मुद्रा' है।

इस अमा-नाम्नी कला के मध्य में एक केश के सहस्रांश के एकांश परिमाण की निर्वाण-नाम्नी कला है। वह समस्त भूत अर्थात् समस्त प्राणियों की अधिष्ठात्री देवी भगवती और नित्य ज्ञानस्वरूपा है। उससे समस्त प्राणियों को तत्वज्ञान उत्पन्न होता है। उसकी आकृति अर्द्ध चन्द्र के समान है और तेज द्वादश आदित्यों के समान है। यही 'महाकुण्डलिनी' है। उसके मध्य में केशाग्र के कोटि अंश के परिमाण की सूक्ष्म, कोटि सूर्य के समान दीप्तिमती त्रिभुवन जननी 'निर्वाणशक्ति' विराजमान हैं। वे अति गुह्य और एकमात्र गुरुकृपालब्ध साधक के अनुभूतिगम्य

हैं। वे ही सब जीवों की प्राणस्वरूपा एवं सृष्टिकर्त्री हैं। वे निरन्तर प्रेमसुधा क्षरण करती हैं। इस प्रेमसुधा के एक कणमात्र का आस्वाद करने पर जीव धन्य हो जाता है और फिर देह धारण नहीं करता है। इस निर्वाण शक्ति के मध्य में योगीजनों का ज्ञेय, विशुद्ध, नित्य, सकल शक्ति का आश्रय, शुद्ध ज्ञान का प्रकाशक, नित्यानन्द नामक शिवपद वर्तमान है। कोई कोई सुधी व्यक्ति इसको 'परम ब्रह्म' कहते हैं। यही 'परमहंस' है। यही (सहस्रार) यति वा सन्यासियों का ध्येय स्थल है। जो साधक योगबल से इसे ज्ञात कर लेते हैं वे ही प्रकृत परमहंस पद के अधिकारी हैं और दूसरे नहीं। केवल मस्तकमुण्डन करके कौपीन धारण करने से ही कोई परमहंस नहीं हो जाता है।

हे पुत्र, इस सहस्रार को ही सत्यलोक कहते हैं। इस सहस्रार पद्म का ध्यान करने से क्या फलप्राप्ति होती है वह मेरे सदृश व्यक्तियों के वर्णन करने की शक्ति से परे है। इसलिए इस पद्म का वर्णन यहीं पर शेष करता हूँ। जब किसी को इसकी उपलब्धि होती है तब वह अपने आपही इसे समझ जाता है।

हे पुत्र, यह एक बात याद रखना कि केवल मूलाधारस्थ कुंडलिनी शक्ति के सहस्रार में आनेसे ही सर्व-वृत्ति-निरोध-रूप असम्प्रज्ञात या निर्विकल्प समाधि नहीं हो जाती है। जिस प्रकार गुरु की कृपा से कुण्डलिनी शक्ति जागरित होने पर सुषुम्णा मार्ग को परिष्कार करने के लिए नाना रूप हठक्रियादि प्रगट होती हैं और उनके द्वारा पथ परिष्कृत होने पर शक्ति विना किसी बाधा के सहस्रार में चली जाती है वैसे ही कुंडलिनी शक्ति के सहस्रार में जाने पर भी उसके निर्दिष्ट स्थान में पहुंचाने के लिए पथ

को परिष्कार करने के लिए नाना रूप प्राणक्रियादि होती हैं। इन प्राणक्रियाओं में किसी प्रकार की पूरक, रेचक और कुम्भकादि क्रियायें नहीं हैं केवल अनुभूति मात्र ही है—अर्थात् प्राण के नाना-विध स्पन्दन होते हैं। यह सब अनुभव से लिखा है। इस समय में मन सहजही शरीर के प्रति नहीं रहता है। केवल नित्य नई-नई ज्ञान की अनुभूतिमात्र होती है। यहाँ पर केवल अरूपका ज्ञान होता है। तब मूर्ख भी पण्डित हो जाता है, एवं विशुद्ध प्रज्ञा उत्पन्न हो जाती है। यह प्रज्ञा तव सबों के अन्दर छिपी हुई आत्म वस्तु को गुप्त नहीं रहने देती है। उसके स्वरूप को प्रकाश कर देती है। इस प्रकार के अनुभूतिसम्पन्न मनुष्य के निकट शास्त्रज्ञ हार मान जाते हैं। मूर्ख होने पर भी तब उसके मुख से अमियज्ञान-धारा बाहर निकलती है जिसको सुनकर शास्त्रज्ञ भी स्तम्भित हो जाते हैं।

समय समय में प्राणस्पन्दन के साथ साथ ऐसा बोध होता है कि बहुत गम्भीर स्वर से 'ॐ' ध्वनि हो रही है। वह कितनी मधुर और आनन्दप्रद होती है वह न इस क्षुद्र लेखनी से वर्णन और न भाषा ही में व्यक्त किया जा सकता है। जिस प्रकार मधुमक्खी पुष्प में से मधु इकट्ठा करने के लिए उसमें बैठने से पूर्व 'गुन्' 'गुन्' शब्द करके पुष्प के चारों ओर घूम कर अपने बैठने का स्थान ढूंढ़ती है और वहां पर बैठकर मधु के आस्वाद से फिर नीरव और निस्तब्ध हो जाती है उसी प्रकार मानों महाप्राणस्वरूपिणी कुंडलिनी शक्ति मधुर 'ॐ' ध्वनि करते करते रस स्वरूप परमशिव या परम ब्रह्म में मिल जाने पर निःशब्द हो जाती है। ऐसा अनुभव किया गया है। यही ब्रह्मभाव है।

'निःशब्दं परमब्रह्म परमात्मा समीयते'। (नादविन्दूपनिषत्)

पुनश्च

'सशब्दश्चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम्'।

(नादविन्दूपनिषत्)

हे पुत्र ! यहीं पर ही साधक की निर्गुण ब्रह्म स्वरूप में स्थिति है। ऐसी स्थिति द्वारा ही साधक पुनः पुनः जन्म मृत्युरूप दुःख के वीज को ध्वंस करने में समर्थ होता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

शुद्धिपत्र

प्रार्थना है कि छापने में जो मात्राएं या अक्षर टूट गये हैं उन्हें पाठकगण सुधार कर पढ़ लेवेंगे। व और ब को यथावश्यकतानुसार सुधार लेवेंगे।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८	२१	पा	कृपा
२३-६०-८२-१११-१३९-१४८	...	वर्तमान्	वर्तमान
२३	२१	रफटिक	स्फटिक
२८, ४६-७६	...	उपनिषद	उपनिषद्
२८	२३	सूक्ष्मेप्वर्थेपु	सूक्ष्मेष्वर्थेषु
३१	२	दोंशकः	देशिकः
३६	१७	सब	सर्वं
३८	१६	होगी	होगा
४४	१४	विद्युत	विद्युत्
५९	११	परिपूण	परिपूर्ण
६२	१२	ज्ञा	संज्ञा
६३	४	रक	रिक
६५	७	ाग	होगी
६८	१८	क्लश	क्लेश
७८	११	चतस्रस्त	चतस्रस्तु
८२	६	सिद्धिय	सिद्धियां
१०५	१	दशन	दर्शन
१०७	९	१—	१-२९
१११	१८	प्रयत्ना	प्रयत्नाद्य
११३	२०	नहीं	नहीं
११४-११५		हनुमान	हनुमान्
११९	३	निाश्चन्त	निश्चिन्त
,,	१४	अपदाथ	अपदार्थ
१२०	२५	क्रमश;	क्रमशः
१२६	१	सरीखा	सरीखे
१३७	१३	वे	उनके
१४०	१८	जानू (जंघा)	जानु (घुटना)
१४९	८	तत्वदर्शी	तत्वदर्शी
१९४	५	ंन्ध	बंध
१५७	३	भृङ्गना	भृङ्गनादं
१६६	१९	जीवनमुक्ति	जीवन्मुक्ति
१७६	१	कूम	कूर्म